Unit-V
(सिद्धान्त कौमुदी)

अध्याय-13

अथ कारकप्रकरण्

'कारक' शब्द का अर्थ है क्रिया से सम्बन्ध रखने वाला। कारक शब्द कृ धातु से ण्वुल् प्रत्यय लगकर बना है जिसका शाब्दिक अर्थ है करने वाला। क्रिया को सम्पन्न करने में जो साधन का कार्य करे उसे कारक कहते हैं। इसीलिए कारक को साधन भी कहते हैं। किसी वाक्य में जिस संज्ञा, सर्वनाम आदि का क्रिया से सम्बन्ध होता है, वही कारक कहलाता है। जिन शब्दों का क्रिया से सीधा सम्बन्ध नहीं, वे कारक नहीं कहलाते, जैसे—"देवदत्तः यज्ञदत्तस्य पुस्तकं पठति" (देवदत्त यज्ञदत्त की पुस्तक पढ़ता है) यहाँ देवदत्त पठन क्रिया का करने वला है और पुस्तक पढ़ी जाती है अतः ये दोनों कारक हुए, किन्तु 'यज्ञदत्त' का पठन क्रिया से कोई सम्बन्ध नहीं, उसका सम्बन्ध है पुस्तक से, इसलिये 'यज्ञदत्त' का पठन क्रिया से कोई सम्बन्ध नहीं, उसका सम्बन्ध है पुस्तक से, इसलिये 'यज्ञदत्त' यहाँ कारक नहीं। इस प्रकार सम्बन्ध को कारक नहीं कह सकते। संस्कृत व्याकरण के अनुसार केवल ६ कारक है—कर्त्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, अधिकरण; जेसे कि कहा भी है—

कर्त्ता कर्म च करणं च सम्प्रदानं तथैव च।
अपादानाधिकरणे इत्याहः कारकाणि षट्।।

कारक के सम्बन्ध का अभिव्यक्त करने के लिए जो प्रत्यय प्रयुक्त हों इन्हें विभक्ति कहते हैं। सुप् प्रत्ययों में तीन–तीन (सु और जस्) आदि की विभक्ति संज्ञ है। ये विभक्तियाँ प्रथमा इत्यादि सात है किस विभक्ति का प्रयोग किस अर्थ का बोध कराने के लिये किया जाता है, इसका वर्णन यहाँ किया गया है।

प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रे प्रथमा। 2.3.46

नियतोपस्थितकः प्रातिपदिकार्थः। मात्रशब्दस्य प्रत्येकं योगः। प्रातिपदिकार्थमात्रे लिङ्गमात्राद्याधिक्ये संख्यामात्रे च प्रथमा। स्यात्। उच्चैः। नीचैः। कृष्णः। श्रीः। ज्ञानम्। अलिङ्गा नियतलिङ्गाश्च प्रातिपदिकार्थमात्र इत्यस्योदाहरणम् अनियतिलिङ्गास्तु लिङ्मात्राधिक्यस्य। तटः। तटी। तटम्। परिमाणमात्रे, द्रोणो व्रीहिः। द्रोणरूपं यत्परिमाणं तत्परिच्छिन्नो व्रीहिरित्यर्थः। प्रत्ययार्थे परिमाणे प्रकृत्यर्थोभेदेन संसर्गेण विशेषणम्, प्रत्ययार्थस्तु परिच्छेद्यपरिच्छेदकभावेन व्रीहि विशेषणेमिति विवेकः। वचनं संख्या। एकः द्वो। बहवः। इहोक्तार्थत्वाद्विभक्तेरप्राप्तौ वचनम्।।

व्याख्याः प्रथमा विभक्ति शब्द से जिस अर्थ की नियमपूर्वक उपस्थिति होती है वह प्रातिपदिकार्थ है। सूत्र में 'मात्र' शब्द का प्रत्येक के साथ सम्बन्ध है, अतः केवल प्रातिपादिकार्थ लिङ्गमात्र एवं परिमाणमात्र अधिक होने पर तथा संख्यामात्र को प्रकट करने के लिये प्रथमा विभक्ति होती है।

इस प्रकार प्रथमा विभक्ति निम्न चार अर्थों में होती है—

(1) प्रातिपदिकार्थ मात्र, (2) लिङ्ग से युक्त प्रातिपदिकार्थ, (3) परिमाणमात्र से युक्त प्रातिपदिकार्थ, (4) वचनमात्र।

प्रातिपदिकर्थमात्रे—सार्थक शब्द को प्रातिपदिक कहते हैं। अंग्रेजी में जो शब्द की Crude form कहलाती है वही

प्रातिपदिक समझना चाहिये। जिस शब्द के बोलने पर जो अर्थ नियम से उपस्थित होता है, उसे प्रातिपदिकार्थ कहते हैं। शब्द के इस नियत अर्थ को प्रकट करने के लिये भी विभक्ति लगानी पड़ती है, क्योंकि संस्कृत में पद का ही प्रयोग किया जाता है (नापदं प्रयुजीत तथा न केवलप्रकृतिः प्रयोक्तव्या न केवलः प्रत्ययः) और सुबन्त या तिङन्त को ही पद कहते हैं (सुप्तिङन्तं पदम्)। प्रातिपदिकार्थ में प्रथमा विभक्ति होती है। जो शब्द अलिङ्ग है अर्थात् किसी लिङ्ग का बोध नहीं कराते अथवा जो नियत लिङ्ग वाले हैं अर्थात् जिनके अर्थ के साथ–साथ लिङ्ग का बोध भी नियत रूप से हो जाता है, वे ही इसके उदाहरण है जैसे—उच्चैस, नीचैस् ये अलिङ्ग अव्यय शब्द हैं। इनमें प्रथमा विभक्ति होकर उच्चैस्+सु सु लोप (अव्ययों से सुप् का लोप हो जाता है) और पद हो जाने से स् को विसर्ग उच्चैः आदि रूप होते।[1] कृष्ण शब्द से पुंल्लिङ्ग की, 'श्री' शब्द से स्त्रीलिङ्ग की तथा 'ज्ञान' शब्द से नपुंसक लिङ्ग की नियम से प्रतीति होती है। अतः ये नियतलिङ्ग के उदाहरण हैं। इनसे प्रथमा विभक्ति होकर कृष्णः, श्रीः तथा ज्ञानम्, रूप होते हैं।

लिङ्गमात्राधिक्ये— प्रातिपदिकार्थ के बिना केवल लिङ्ग आदि की प्रतीति तो होती नहीं अतः लिङ्गमात्र का अधिक बोध कराने के लिये प्रथमा होती है, यह अर्थ समझना चाहिये। अनियत लिड्ग वाले शब्द इस के उदाहरण हैं। जैसे—तटः, तटी, तटम् ये शब्द 'किनारा' अर्थ के साथ–साथ क्रमशः पुंल्लिङ्ग आदि का भी बोध कराते हैं, जो इनका नियत अर्थ नहीं। तट शब्द अनियत लिङ्ग वाला है, इसका नियत लिङ्ग एक नहीं। कभी पुंल्लिङ्ग कभी स्त्रीलिङ्ग हो जाता है। इस प्रकार 'तटः' आदि शब्द का नियत अर्थ तटत्व (किनारा) है। उससे अधिक पुंस्त्व आदि का ज्ञान भी यहाँ होता है। अतः ये लिङ्गमात्राधिकय के उदाहरण है। यहाँ प्रातिपदिकार्थ से लिङ्गमात्र अधिक होने पर प्रथमा विभक्ति होती है।

परिमाणामात्राधिक्ये— (उपर्युक्त रीति से) परिमाणमात्र अधिक होने पर प्रथमा विभक्ति होती है। जैसे द्रोणो व्रीहिः—द्रोणरूप जो परिमाण उससे मापा गया व्रीहि, यह अर्थ है। 'द्रोण' एक परिमाण (माप) का नाम है। यदि यहाँ 'द्रोणः' शब्द में प्रातिपदिकार्थ में प्रथमा विभक्ति होती तो 'द्रोण रूप जो परिमाण उससे अभिन्न व्रीहि' यह अर्थ प्रतीत होता। क्यों? यहाँ जो परिमाण है वह नाम (प्रातिपदिक का अर्थ होता; ओर नियम यह है कि समान विभक्ति वाले नाम पदों के अर्थो का अभेदान्वय हुआ करता है। (नामर्थयोरभेदान्वयः)। किन्तु यहाँ 'द्रोण परिमाण से मापा हुआ व्रीहि' यह अर्थ अभीष्ट है। अतः परिमाणमात्राधिक्य में प्रथमा विभक्ति का विधान किया गया है। फलतः— यहाँ द्रोण शब्द से होने वाली प्रथमा सामान्य परिमाण अर्थ को प्रकट करती है। द्रोण शब्द का अर्थ है—द्रोणनामक परिमाण विशेष। इसलिये द्रोण (प्रकृति) का अर्थ (परिमाण–विशेष) प्रथमा के अर्थ परिमाण सामान्य में अभेद सम्बन्ध से अन्वित हो जाता है और ''द्रोण रूप परिमाण'' यह अर्थ हो जाता है। अब परिमाण प्रत्यय का अर्थ है अतः इस अर्थ का परिच्छेद –परिछेदकभाव सम्बन्ध से व्रीहि के साथ अन्वय होता है और ''द्रोण रूप परिमाण से मापा हुआ व्रीहि'' यह अर्थ हो जाता है।

वचनमात्रे— वचन कहते हैं संख्या को। केवल संख्या को प्रकट करने के लिये प्रथमा विभक्ति होती है, जैसे एकः, द्वौ, बहवः। यहाँ एकत्व, द्वित्व तथा बहुत्व आदि अर्थ शब्दों से ही प्रकट हैं। किच प्रथमा विभक्ति के जो प्रत्यय सु, औ, जस् हैं उनका भी क्रमशः एकत्व, द्वित्व, बहुत्व अर्थ होता है। अतः 'उक्तार्थानामप्रयोगः' (उक्त अर्थों का पुनः प्रयोग नहीं होता) इस न्याय से प्रथमा विभक्ति नहीं होनी चाहिये थी, इसीलिये सूत्र में 'वचन' ग्रहण किया गया है।

सम्बोधने च 2.3.47

इह प्रथमा स्यात्। हे राम।। इति प्रथमा।।

व्याख्याः सम्बोधन का बोध कराने के लिए भी प्रथमा विभक्ति का प्रयोग होता है। जैसे हे राम।

प्रथमा विभक्ति समाप्त

---

१. व्याकरण के अनुसार अव्यय शब्दों से भी प्रथमा विभक्ति (आती है किन्तु उसका लोप हो जाता है। विभक्ति लगने पर ही अव्यय शब्द पद (सुबन्त) कहलाते हैं और प्रयोग के योग्य होते हैं। अव्ययादाप्सुपः २।४।८२।।

द्वितीया विभक्ति

3. कारके 1.4.23

इत्यधिकृत्य।।

व्याख्याः द्वितीय विभक्ति इस सूत्र से कारक का अधिकार करके कर्म आदि कारकों की संज्ञा की गई है। यह अधिकार सूत्र है। इसके आगे जो कर्म आदि संज्ञाविधायक सूत्र है उन सब में 'कारक' पद का अन्वय होता है।

कर्तुः क्रियाया अप्तुमिष्टतमं कारकं कर्मसंज्ञं स्यात्. कर्तुः किम्? माषेष्वश्वं बध्नाति. कर्मणा ईप्सिता माषा न तु कर्तुः। तमब्ग्रहणं किम्? पयसा ओदनं भुङ्क्ते। कर्मेत्यनुवतौ पुनः कर्मग्रहणमाधारनिवत्त्यर्थम् अन्यथा ग्रहं प्रविशतीत्यत्रैव स्यात्.

व्याख्याः कर्त्ता अपनी क्रिया से जिन पदार्थ को प्राप्त करने की सर्वाधिक इच्छा रखता है वह कारक कर्मसञ्ज्ञक होता है।

कर्तुः किमति—जो कर्त्ता की क्रिया द्वारा उसे सबसे अधिक अभीष्ट होता है वह कर्मसंज्ञक होता है। ऐसा क्यों कहा? इसलिये कि यदि कोई पदार्थ कर्त्ता को क्रिया के द्वारा मुख्य प्राप्य के रूप में अभीष्ट न हो तो उसकी कर्म संज्ञा नहीं होगी, जैसे 'मावेष्वश्वं बध्नाति'— उड़दों में घोड़े को बाँधता है।' यहाँ उड़द कर्म (अश्व) को अभीष्ट हैं वही उन्हें खाना चाहता है। कर्त्ता को उड़द अभीष्ट नहीं, उसका अभीष्ट तो अश्व को बांधना ही है। इस हेतु अश्व की कर्म संज्ञा होगी माष की नहीं। 'माष' बन्धन क्रिया का अधिकरण है अतः माषेषु में सप्तमी विभक्ति है।

तमब् इति- ईप्सित शब्द से तमप् प्रत्यय क्यों लगाया? इसलिये कि जो वस्तु कर्त्ता को अपनी क्रिया द्वारा सबसे अधिक अभीष्ट हो, उसकी कर्म संज्ञा होनी चाहिये, अन्य की नहीं। जैसे — पयसा ओदनं भुङ्क्ते (दूध से भात खाता है)। यहाँ कर्त्ता को अपनी भोजन क्रिया से ओदन अभीष्टतम है। यद्यपि वह दूध भी प्राप्त करना चाहता है तथापि दूध भोजन क्रिया में साधन ही है, वह भोजन का उद्देश्य नहीं है। इससे ओदन की कर्म संज्ञा होती है पयः की नहीं। कर्म आदि का निर्णय करने के लिए क्रिया का अन्य कारकों से अन्वय मुख्य है। वाक्य में जो शब्द क्रिया के फल के रूप में सर्वाधिक अभीष्ट अभीष्ट के रूप में प्रयुक्त हो वही कर्मसंज्ञक होता है।

कर्म इति— यहाँ पाणिनि के सूत्रों का क्रम है—आधारोधिकरण् 1 |4 |45, अधिशीङ्स्थासां कर्म 1 |4 |43, अभिनिविशश्च 1 |4 |47, उपान्ध्याङ्वसः 1 |4 |48, कर्तुरीप्सिततमं कर्म 1 |4 |49। इस प्रकार 'अधिशीङ् स्थासां कर्म' 1 |4 |49, सूत्र से कर्म की अनुवत्ति आ रही थी फिर 'कर्म' का ग्रहण आधार—निवत्ति के लिये किया गया है। नहीं तो कर्म के साथ आधार भी चला आता तब 'गेहं प्रविशति' आदि में अभीष्टतम आधार 'ग्रह' की ही कर्म संज्ञा होती, 'हरिं भजति' आदि में हरि की नहीं। 'कर्म' ग्रहण करने पर तो वहाँ से किसी शब्द की भी अनुवत्ति नहीं होती और 'हरिं भजति' आदि में भी कर्म संज्ञा होकर द्वितीया विभक्ति होती है।

अनभिहिते . 2.3.1

इत्यधिकृत्य।।

व्याख्याः यह अधिकार सूत्र है। इसका अर्थ अग्रिम सूत्रों में चरितार्थ होगा। 'अनभिहित अर्थ में' इसका अधिकार करके। अनभिहित शब्द का अर्थ है—अनुक्त। जिस अर्थ का कथन क्रिया द्वारा हो वह अर्थ उक्त हो जाता है, जैसे—'सेव्यते' में कर्म में (तिङ्) प्रत्यय हुआ है, वहाँ कर्म उक्त हो जाता है। उक्त के अर्थ से भिन्न अनुक्त या अनभिहित होता है। यह अधिकार सूत्र है। आगे के द्वितीया आदि विभक्ति के विधायक सभी सूत्रों में 'अनभिहिते' पद का अन्वय होता है। कर्तवाच्य में कर्त्ता उक्त अर्थात् अभिहित होता है और शेष कारक अनभिहित होते हैं।

कर्मणि द्वितीया। 2.3.2

अनुक्ते कर्मणि द्वितीया स्यात्। हरिं भजति। अभिहिते तु कर्मणि प्रातिपदिकार्थमात्र इति प्रथमेव। अभिधानं तु प्रायेण तिङकृत्तद्धितसमासैः। तिङ्, हरिः सेव्यते। कृत्, लक्ष्मया सेवितः। तद्धित, शतेन क्रीतः शत्यः।

---

१. जिससे कोई चीज नापी या तोली जाती है वह परिच्छेदक कहलाता है और जो चीज नापी या तोली जाती है वह परिछेद्य।

समासः, प्राप्त आनन्दो य स प्राप्तानन्दः। क्वचिनिपातेनाभिधानं यथा'विषवक्षोपि संवर्ध्य स्वयं छेत्तुमसाम्प्रतम्। साम्प्रतमित्यस्य हि युज्यत इत्यर्थः।

व्याख्याः अनुक्त कर्म में द्वितीया विभक्ति होती है।

हरिं भजति—(हरि को भजता है) इस वाक्य में कर्त्ता का ईप्सिततम हरि' है। हरि की कतुरीप्सिततमं कर्म' सूत्र से कर्म संज्ञा हो जाती है। 'भजति' क्रिया कर्तवाच्य की है यहाँ लकार (ति) कर्त्ता में हुआ है? इसलिये कर्म अनुक्त है—किसी प्रत्यय आदि से कहा नहीं गया। अनुक्त कर्म होने से 'हरिम्' में प्रस्तुत सूत्र से द्वितीया विभक्ति होती है।

अभिहित इति— उक्त कर्म में तो प्रातिपदिकार्थ इत्यादि नियम से प्रथमा ही होती है।

संक्षेप में यह समझना चाहिये कि कर्तवाच्य के कर्म में द्वितीया विभक्ति होती है। कर्मवाच्य में लकार कर्म अभिधान करता है। अतः कर्म उक्त हो जाता है। वहाँ (उक्त) कर्म में प्रातिपदिकार्थ मात्र को प्रकट करने के लिये प्रथमा विभक्ति होती है, जैसे— 'हरिःसेव्यते' यहाँ हरिः' प्रथमा विभक्ति में है।

अभिधानमिति— प्रायः तिङ्, कृत्, तद्धित और समास के द्वारा कर्म आदि कारक उक्त होते हैं।

हरिःसेव्यते— यहाँ कर्म तिङ् से उक्त है, क्योंकि यहाँ कर्म में लकार होता है, कर्मवाच्य की क्रिया है। अतः 'हरिः' में प्रातिपदिकार्थ मात्र में प्रथमा विभक्ति है।

लक्ष्म्या सेवितः— में 'सेवित' शब्द 'सेव्' धातु से 'क्त' प्रत्यय (कृत्) होकर बना है। 'क्त' प्रत्यय कर्म में हुआ है[2] अतः कर्म कृतप्रत्यय 'क्त' से उक्त हो गया। इसी से 'लक्ष्म्या' सेवितः हरिः' यहाँ 'हरि' में द्वितीया विभक्ति नहीं हुई, अपितु कर्म उक्त होने से प्रातिपदिकार्थ मात्र में प्रथमा होती है।

शत्यः— शतेन क्रीतः (सौ से खरीदा हुआ)। यहाँ शत शब्द से कर्म अर्थ में 'यत्' तद्धित प्रत्यय (शताच्च ठन्यताशते 5.1.21) होकर 'शत्य' शब्द बनता है। कर्म तद्धित से उक्त है अतः 'शत्यः' में द्वितीया विभक्ति न होकर प्रथमा ही होती है।

प्राप्तानन्दः— प्राप्तः आनन्दोयं सः (देवदत्तादिः) प्राप्तानन्दः। यहाँ प्राप्त और आनन्द दोनों शब्दों का द्वितीयार्थ में बहुव्रीहि समास हुआ है। अन्य पदार्थ (देवत्तादि) कर्म बहुव्रीहि समास से उक्त हो जाता है। इसलिये 'प्राप्तानन्द' इस समस्त पद का जो अन्यार्थ है उसके वाचक पद से द्वितीया नहीं होती, अपितु प्रातिपदिकार्थ मात्र में प्रथमा ही होती है —'प्राप्तानन्दो देवदत्तः' इति।

'अभिधानं तु प्रायेण' में प्रायेण शब्द रखने का तात्पर्य दिखलाते हैं। क्वचिन्निपातेनेति कहीं—कहीं निपात के द्वारा भी कर्म आदि उक्त हो जाते हैं। च, वा इत्यादि अव्ययों की निपात संज्ञा है। 'साम्प्रतम्' यह भी निपात है। 'साम्प्रतम्' का अर्थ है– उचित। असाम्प्रपम्—उचित नहीं (न युज्जते)। विषवक्षोपि आदि में विषवक्ष 'संवर्ध्य' तथा 'छेत्तुम्' का कर्म है। 'असाम्प्रतम्' निपात द्वारा विषवक्ष की कर्मता उक्त हो गई है, इसी हेतु विषवक्ष शब्द से द्वितीया विभक्ति नहीं होती, प्रथमा होती है। किन्हीं का मत है कि यह कर्म 'अपि' निपात द्वारा 'उक्त' हो गया है।

तथायुक्तं चानीप्सितम्। 1.4.50

ईप्सिततमवत्क्रियाया युक्तमनीप्सितमपि कारकं कर्मसंज्ञं स्यात्। ग्रामं गच्छन् तणं स्पशति। ओदनं भुजानो विषं भुङ्क्ते।।

व्याख्याः जो पदार्थ कर्त्ता के अनीप्सित होते हुए भी ईप्सितम के समान क्रिया से युक्त होते हैं, उनकी भी कर्म संज्ञा होती है।

ग्राम गच्छंस्तणं स्पशति — (ग्राम को जाता हुआ तिनके को छूता है) यहाँ जाने वाले के लिये 'तण' उपेक्ष्य है किन्तु छूना क्रिया के फल से युक्त होने के कारण 'तण' की कर्म संज्ञा होकर द्वितीया विभक्ति होती है।

---

१. लः कर्मणि च भावे चाकर्मकेंयः। ३।४।६६।।

२. तयोरेव कृत्यक्तखलर्थाः। ३।४।७०।।

विषं भुङ्क्ते– (विष खाता है) विष खाना कर्त्ता को अभीष्ट नहीं किन्तु जिस प्रकार ओदन (भात) खाने में ओदन का भोजन क्रिया से सम्बन्ध होता है उसी प्रकार यहाँ विष पर भी भोजन क्रिया का फल पड़ता है, इसीलिये विष की कर्म संज्ञा होकर द्वितीया होती है।

अकथितं च। 1.4.52

अपादानादिविशेषैरविवक्षितं कारकं कर्मसंज्ञं स्यात्।

दुह्याचापच्दण्ड्रुधिप्रच्छिचिब्रू शासुजिमथ्मुषाम्।
कर्मयुक् स्यादकथितं तथा स्यान्नीह्कृष्वहाम्।।

दुहादीनां द्वादशानां तथा नीप्रभतीनां चतुर्णा कर्मणा यद्युज्यते तदेवाकथितं कर्मेति परिगणनं कर्तव्यमित्यर्थः।

दां दोग्धि पयः। बलिं याचते वसुधाम्। अविनीतं विनयं याचते। तण्डुलानोदनं पचति। गर्गान् शतं दण्डयति। व्रजमवरुणद्धि गाम् माणवकं पन्थानं पच्छति। वक्षमवचिनोति फलानि। माणवकं धर्म ब्रूते शास्ति वा। शतं जयति देवदत्तम्। सुधां क्षीरनिधिं मथ्नाति। देवदत्तं शतं मुष्णाति। ग्राममजां नयति हरति कर्षति वहति वा।

अर्थनिबन्धनेयं संज्ञा. बलिं भिक्षते वसुधाम्. माणवकं धर्मं भाषते वक्तीत्यादि. कारकं किम्? माणवकस्य पितरं पन्थानं पच्छति .

व्याख्याः अपादान आदि कारकों से अविविक्षत कारक कर्मसंज्ञक होता है।

कारक का प्रयोग कर्त्ता की विवक्षा पर निर्भर करता है। जहाँ अपादान आदि का अर्थ प्रकट होता है किन्तु वक्ता उसका प्रयोग नहीं करना चाहता। (अकथित= अविवक्षित) तथ कर्म की विवक्षा रखता है वहाँ उस कारक की कर्म संज्ञा होती है। अकथितं च सूत्र से जो कर्म होता है उसे गौण या अप्रधान कर्म कहते हैं और 'कर्तुरीप्सिततम् कर्म' से जो कर्म होता है वह प्रधान कर्म कहा जाता है।

'अकथिंत च' यह नियम आगे बतलाई गई 'दुह' आदि धातुओं पर ही लागू होता है–

दुह, इति–1–दुह, (दुहना) 2–याच् (मांगना), 3–पच् (पकाना), 4–दण्ड् (दण्ड देना), 5–रुध्(रोकना), 6– प्रच्छ् (पूछना), 7–चि (चुनना), 8–ब्रू (कहना), 9–शास् (शासन करना), 10–जि (जीतना), 11–मन्थ् (मथना), 12–मुष् (चुराना), 13–नी (ले जाना), 14– ह्र (हरना, ले जाना), 15 कृष् (खींचना), 16–वह (ले जाना, ढोना)–इन दुह् आदि 12 तथा नी आदि 4 कुल मिलाकर 16 धातुओं के कर्म से जिसका सम्बन्ध होता है (कर्मयुक्) और जिसमें अपादान आदि की विवक्षा नहीं होती, वही अकथित कर्म कहा जाता है। इस प्रकार यहाँ भाष्य आदि में परिगणन किया गया है। दो कर्मों का प्रयोग होने के कारण ये धातुएँ द्विकर्मक कहलाती हैं।

1. गां दोग्धि पयः–(गाय से दूध दोहता है) यहाँ गाय सामान्यतः अपादान कारक है किन्तु यह अपादान कारक के रूप में विवक्षित नहीं, अपितु दूध रूप कर्म के निमित्त रूप में विवक्षित है अतः उपर्युक्त नियम (अकथितं च) से 'गो' की कर्म संज्ञा होकर कर्म में द्वितीया विभक्ति होती है। इसका अर्थ होता है –गोसम्बन्धी पयः कर्मक दोहन। यदि अपादान की विवक्षा होगी तो पंचमी विभक्ति होगी, तथा 'गो दोग्धि पयः' यही प्रयोग होगा। यहाँ 'पयः' प्रधान कर्म है और 'गाम्' गौण कर्म।

2. बलिं याचते वसुधाम्–(बलि से पथ्वी माँगता है) यहाँ बलि अपादान है इसकी अविवक्षा होने पर बलि की कर्म संज्ञा होकर द्वितीया होती है। अतएव बलि गौण कर्म है। अपादान की विवक्षा में 'बलेर्याचते वसुधाम्' वह प्रयोग होगा।

3. अविनीतं विनयं याचते–(अविनीत से विनय के लिये प्रार्थना करता है) यहाँ 'याच्' धातु का अर्थ अनुनय या प्रर्थना है। 'अविनीत' इसका मुख्य कर्म है– 'अविनीतं' विनयाय अनुनयति' (अविनीत से विनय के लिये अनुनय करता है) यह अर्थ होता है। 'विनय' में सम्प्रदान की विवक्षा न होने पर 'अकथितं च' से कर्म संज्ञा होती है तथा द्वितीया विभक्ति होती है। अन्यों का मत है कि 'विनय' इसका मुख्य कर्म है। अविनीतकर्मक विनय की प्रार्थना करता है अतएव 'अविनीत' कर्ता है। उसमें कर्मत्व की विवक्षा में द्वितीया होती है। अन्य मत के अनुसार 'अविनीत से विनय' की प्रार्थना करता है' यह अर्थ है। अविनीत अपादान है। अपादानत्व की अविवक्षा में इसकी कर्मसंज्ञा

होती है।

4. तण्डुलान् ओदनं पचति— (चावलों से भात पकाता है) यहाँ ओदन मुख्य कर्म है। तण्डुल करण है। तण्डुल में भी कर्म की विवक्षा में द्वितीया विभक्ति होती है। तण्डुल गौण कर्म है।

4. गर्गान् शतं दण्डयति—(गर्गों से सौ रुपया जुर्माना लेता है) यहाँ 'शत' मुख्य कर्म है गर्गों से सौ रुपया दण्ड का लिया जाता है। गर्ग अपादान कारक है। गर्ग में कर्मत्व की विवक्षा होने से द्वितीया विभक्ति होती है।

5. व्रजमवरुणद्धि गाम्—(गाय को व्रज में रोकता है) यहाँ 'ग्राम्' अवरुणद्धि का मुख्य कर्म है। 'व्रज' (गोशाला) जो आधार या अधिकरण है, उसकी अविवक्षा होने पर अकथित कर्म में द्वितीया विभक्ति होती है।

6. माणवकं पन्थानं पच्दछति—(बालक से मार्ग पूछता है)—यहाँ पथ मुख्य कर्म है। माणवक अपादान है। उसमें कर्म की विवक्षा होने पर द्वितीया विभक्ति होती है। कुछ का मत है कि माणवक करण है।

7. वक्षमवचिनोति फलानि— (वक्ष से फलों को चुनता है)—यहाँ फल मुख्य कर्म है। वक्ष अपादान है। अपादान की अविवक्षा में कर्म संज्ञा होकर द्वितीया होती है।

8, 9— माणवकं धर्म ब्रू ते शास्ति वा—(माणवक के लिये धर्म का उपदेश करता है)—यहाँ धर्म मुख्य कर्म है। माणवक सम्प्रदान है। उसमें कर्म की विवक्षा होने पर द्वितीया विभक्ति होती है।

10. शतं जयति देवदत्तम्—(देवदत्त से सौ रुपये जीतता है)—यहाँ 'शत' मुख्य कर्म है। देदत्त अपादान है। उसमें कर्म की विवक्षा होने पर द्वितीया होती है।

11.सुधां क्षीरनिधिं मथ्नाति—(सागर से अमत मथता है)—यहाँ 'सुधा' मुख्य कर्म है। 'क्षीरनिधि' अपादान है। उसमें कर्म की विवक्षा होने पर द्वितीया होती है। कुछ के मत में 'क्षीरनिधि' मथ् का मुख्य कर्म है। 'सुधा' के लिये क्षीर निधि को मथता है यह अर्थ है। सुधा सम्प्रदान है। उसमें कर्मत्व होकर द्वितीया हो जाती है।

12. देवदत्त शतं मुष्णाति—(देवदत्त से सौ रुपये हरता है)—यहाँ 'शत' प्रधान कर्म है। देवदत्त अपादान है। उसमें कर्मसंज्ञा होकर द्वितीया विभक्ति होती है।

13-16. ग्रामम् अजां नयति, हरति, कर्षति, वहति वा—(गाँव में बकरी को ले जाता है)— यहाँ 'अजा' मुख्य कर्म है। ग्राम अधिकरण है। उसकी कर्म संज्ञा होकर द्वितीया विभक्ति होती है।

अर्थनिबन्धेति—'अकथित च'ञसे जो कर्म संज्ञा होती है, वह अर्थाश्रित है अर्थात् दुह् आदि धातुओं के समान अर्थ वाली अन्य धातुओं के योग में भी अपादान आदि की अविवक्षा होने पर कर्म संज्ञा हो जाती है। इसीलिये 'याच्' धातु के अर्थ वाली 'भिक्ष्' धातु के योग में भी 'बलि' की कर्म संज्ञा होकर द्वितीया होती है तथा 'ब्रू' धातु के अर्थ वाली 'भाष्' आदि धातु के योग में 'माणवक' में द्वितीया हो जाती है। इसी प्रकार अन्य परिगणित धातुओं की समानार्थक धातुओं के योग में भी यह कर्म संज्ञा हुआ करती है।

कारकं किमिति—सूत्र के अर्थ में 'कारक' शब्द रखने का क्या अभिप्राय है? यह कि अपादान आदि कारकों की अविवक्षा में उनकी ही यह कर्म संज्ञा होती है सम्बन्ध की नहीं। इसलिये 'माणवकस्य पितरं पन्थानं पच्छति' यहाँ 'माणवक' में द्वितीया नहीं होती, अपितु सम्बन्ध में षष्ठी ही होती है। यहाँ माणवक कारक नहीं है, क्योंकि इसका सम्बन्ध क्रिया से नहीं, अपितु केवल पिता से है।

*** (वा) अकर्मकधातुभिर्योगे देशः कालो भावो गन्तव्योध्वा च कर्मसंज्ञक इति वाच्यम् कुरून् स्वपिति। मासमास्ते। गोदोहमास्ते। क्रोशमास्ते।**

व्याख्याः अकर्मक धातुओं के योग में देश, काल, भाव तथा गन्तव्य मार्ग की कर्म संज्ञा होती है। जैसे— कुरून् स्वपिति (कुरुदेश में सोता है)—यहाँ 'कुरु' देशवाची है। यहाँ देश का अर्थ है— ग्रामों का समूह कुरु, पाचाल आदि जनपद। कुरु आदि जनपदवाचक शब्दों का बहुवचन में ही, प्रयोग होता है। 'स्वप्' धातु अकर्मक है। यहाँ 'कुरु' की इस वार्तिक से कर्म संज्ञा होकर कर्मणि द्वितीया से द्वितीया होती है।

माममास्ते (मास भर रहता है)—मास कालवाची है। यहाँ काल शब्द से दिन—रात के समूहवाचक 'मास' आदि का ग्रहण होता है। 'आस्' धातु अकर्मक है।

गोदोहमास्ते (गो–दोहन की वेला तक ठहरता है) यहाँ 'गोदोह' शब्द का अर्थ है गोदोहन अर्थात् गोदोहन का समय। 'गोदोह' शब्द भाववाची' है। भाव का अभिप्राय है धातु का अर्थ।

क्रोशमास्ते (कोस भर में है)–यहाँ क्रोश गन्तव्य मार्ग वाची है। जिस मार्ग को पार करना होता है वह गन्तव्य मार्ग है। इसके द्वारा यहाँ मार्ग के परिमाण के वाचक क्रोश' आदि का ग्रहण होता है।

जहाँ कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे से द्वितीया प्राप्त नहीं होती वहाँ इस वार्तिक से कर्म संज्ञा होकर द्वितीया होती है। कुरु आदि को जब अधिकरण रूप में कहना अभीष्ट होता है तो 'कुरुषु स्वपिति' आदि प्रयोग भी होते हैं। अकर्मक धातुओं का संग्रह इस प्रकार किया गया है–

लज्जा–सत्ता–स्थिति–जागरणं वद्धि–क्षय–भय–जीवित–मरणम्।
शयन–क्रीडा–रुचि दीप्त्यर्थं धातुगणान्तमकर्मकमाहुः।।

गतिबुद्धिप्रत्यवसानार्थशब्दकर्माकर्माकाणामणि कर्त्ता स णौ. 1.4.52

गत्याद्यर्थानां शब्दकर्मणामकर्मकाणां चाणौ यः कर्त्ता स णौ कर्म स्यात्। शत्रुनगमयत्स्वर्गं वेदार्थं स्वानवेदयत्। आशयच्चामतं देवान्वेदमध्यापयद्विधिम्। आसयत्सलिले पथ्वीं यः स मे श्रीहरिर्गतिः।। गतीत्यादि किम्? पाचयत्योदनं देवदत्तेन। अण्यन्तानां किम्? गमयति देवदत्तो यज्ञदतं तमपरः प्रयुङ्क्ते गमयति देवदत्तेन यज्ञदत्तं विष्णुमित्रः।।

व्याख्याः गमन अर्थ वाली, ज्ञान (बुद्धि) अर्थ वाली, भक्षण (प्रत्यवसान) अर्थ वाली, शब्दकर्मक तथा अकर्मक धातुओं का अण्यन्त अथवा साधारण अवस्था में जो कर्ता होता है वह ण्यन्त अर्थात् प्रेरणार्थक दशा में कर्म हो जाता है।

जब कर्ता से कोई अन्य व्यक्ति कार्य कराता है अर्थात् उसे कार्य करने की प्रेरणा देता है तो उसे प्रेरणार्थक क्रिया द्वारा प्रकट किया जाता है। वहाँ धातु से णिच् (णि) प्रत्यय होकर उसका ण्यन्त या णिजन्त रूप बनता है। जैसे–

गम्+णिच्+अ+ति गम्+इ+अ+ति गम+ए+अ+ति = 'गमयति' जाने का प्रेरणा देता है।' प्रेरक को प्रयोजक कर्ता कहते हैं और जिसको प्रेरित किया जाता है उसे प्रयोज्य कर्ता। गति इत्यादि सूत्र से प्रयोज्य कर्ता की ण्यन्त दशा में कर्म संज्ञा होती है। जैसे–

(1) **शत्रून् आगमयत् स्वर्गम्**– यहाँ गति अर्थ वाली धातु 'गम् है। 'शत्रवः' स्वर्गम् अगच्छन्' यह साधारण दशा का रूप है। इन्हें हरि ने स्वयं जाने के लिये प्रेरित किया अतः हरि प्रयोजक कर्त्ता है। 'अगमयत्' यह णिजन्त दशा का प्रयोग है। इसीलिये अणिजन्त अवस्था का कर्ता :शत्रवः' अगमयत् (णिजन्त दशा) का कर्म हो जाता है। कर्म में द्वितीया होती है (शत्रून्)।

(2) वेदार्थ स्वान् अवेदयत्–यहाँ बुद्धि (ज्ञान) अर्थ वाली धातु 'विद्' है। 'स्वे वेदार्थम् अविदुः' यह साधारण दशा का रूप है। 'अवेदयत्' णिजन्त का प्रयोग है। उपर्युक्त नियम से अण्यन्त दशा का कर्त्ता णिजन्त की अवस्था में कर्म हो गया है तथा कर्म में द्वितीया विभक्ति होती है–(स्वान्)।

(3) आशयत् च अमतं देवान् –(देवताओं को अमत खिलाया)–'अश्' खाना अर्थ वाली धातु है। 'देवाः अमतं।' आश्नन्' (देवों ने अमत खाया) यह साधारण दशा का रूप है। 'आशयत्' णिजन्त का प्रयोग है। उपर्युक्त नियम से अण्यन्त अवस्था का कर्त्ता 'देवा' णिजन्त दशा में कर्म हो गया है तथा कर्म में द्वितीया विभक्ति होती है–देवान्)।

(4) वदेमध्यापयद् विधिम्(ब्रह्मा को वेद पढ़ाया)–यहाँ 'इङ्' पढ़ना वाली धातु है। यह ऐसी धातु है, जिसका कर्म शब्द है (शब्दकर्मक)[१]। 'विधिः देवम् अध्यैत' (ब्रह्मा ने वेद पढ़ा)–'हरिः विधिं वेदमध्यापयत्'। 'अध्यापयत्' णिजन्त का प्रयोग है। यहाँ साधारण दशा के कर्ता 'विधि' की उपर्युक्त नियम से कर्म संज्ञा हो जाती है।

(5) आसयत् सलिले पथ्वीम् (पथ्वी को जल पर स्थित किया)–यह अकर्मक का उदाहरण है। आस् (बैठना) धातु अकर्मक है। 'आस सलिले पथिवी' (पथिवी सलिल पर स्थिति हुई)। 'तां हरिः आसयत्'–उसे हरि ने स्थित किया। इस प्रकार साधारण दशा का 'कर्त्ता' पथिवी है। 'आसयत्' यह णिजन्त का प्रयोग है। उपर्युक्त नियम से साधारण दशा के कर्त्ता पथिवी को कर्म संज्ञा होकर द्वितीया हो जाती है।

---

१. 'शब्दः कर्मकारकं येषां ते शब्दकर्मकाः'–शब्द है कर्म कारक जिनका वे शब्दकर्मक कहलाती है।

श्लोक का अर्थ यह है—जिस श्री हरि ने शत्रुओं को वेद पढ़ाया और पथिवी को जल पर स्थिति किया वह हरि मेरी गति है।

गतीत्यादि किमिति—गति आदि अर्थ वाली धातुओं के अण्यन्त अवस्था के कर्त्ता को ण्यन्त अवस्था में कर्म संज्ञा होती है, यह क्यों कहा? इसलिये कि इनसे भिन्न धातुओं में यह नियम नहीं लगता। अतएव 'पाचयति ओदनं देवदत्तेन' यहाँ देवदत्त की कर्म संज्ञा नहीं होती, अपितु धातु की साधारण दशा का कर्त्ता 'देवदत्त' (देवदत्तः ओदनं पचति) प्रेरणार्थक दशा में कर्त्ता ही (प्रयोज्य कर्ता) रहता है और उसमें ''कर्तकरणयोस्ततीया'' 2।3।18 से ततीया विभक्ति होती है।

अण्यन्तानां किम् इति—(सूत्र में) अणि अर्थात् अणिजन्त अवस्था के कर्त्ता को कर्म हो, यह क्यों कहा है? इसलिये कि यदि णिजन्त अवस्था के कर्त्ता को कोई अन्य प्रेरित करे तो उसकी कर्म संज्ञा नहीं होगी, जैसे—

(क) 'यज्ञदत्त गच्छति'— यहाँ साधारण दशा में 'यज्ञदत्त' कर्त्ता है।

(ख) 'गमयति देवदत्तो यज्ञदत्तम्'— यहाँ अण्यन्त के कर्त्ता 'यज्ञदत्त' की ण्यन्त दशा में कर्म संज्ञा हो गई है।

(ग) 'देवदत्तम् अपरः (विष्णुमित्रंः) प्रयुङ्क्ते'— देवदत्त को भी विष्णुमित्र प्रेरित करता है—'गमयति देवदत्तन यज्ञदत्तं विष्णुमित्रः—यहाँ 'देवदत्त' की कर्म संज्ञा नहीं होगी, क्योंकि वह णिजन्त का कर्ता है अणिजन्त का नहीं और, ऊपर के सूत्र से अण्यन्त (अणिजन्त) के कर्ता की ही कर्म संज्ञा होती है।

***(वा) वह्योर्न**

नाययति वाहयति वा भारं भत्येन।।

व्याख्याः 'नी' 'वह्' (ले जाना) णिजन्त धातुओं के प्रयोज्य कर्त्ता की कर्म संज्ञा नहीं होती। जैसे —'भत्यो भारं नयति, वहति वा' यहाँ 'भत्य' साधारण दशा का कर्त्ता है अर्थात् प्रयोज्य कर्त्ता है। 'नाययति, वाहयति वा भारं भत्येन' यहाँ णिजन्त के प्रयोग में भत्य की कर्म संज्ञा नहीं होती अपितु वह कर्त्ता ही रहता है और कर्त्ता में ततीया होती है [नी—वह धातुओं का अर्थ है प्रापण (पहुँचाना—गति कराना) अतः यहाँ गत्यर्थक होने से ऊपर का नियम प्राप्त था]।

***(वा) नियन्तकर्तकस्य वहेरनिषेधः वाहयति रथं वाहान् सूतः।**

व्याख्याः जहाँ 'वह्' धातु का कर्ता 'नियन्त' (हाँकने वाला) होगा। वहां कर्म संज्ञा का निषेध नहीं होता। जैसे— 'वाहाः (आश्वाः) रथं वहन्ति' तान् नियन्ता (सारथि) प्रेरयति—

'वाहयति रथं वाहान् सूतः'—(सारथि अश्वों द्वारा रथ को ले जाता है)—यहाँ 'वाह' (प्रयोज्य कर्ता) की कर्म संज्ञा होकर उसमें द्वितीया विभक्ति हो ही जाती है।

*** (वा) आदिखाद्योर्न आदयति खादयति वान्नं वटुना।**

व्याख्याः **आदिखाद्योर्न (वा)**— अण्यन्त अद् और खाद् धातु के कर्ता को उनके ण्यन्त प्रयोग में कर्म संज्ञा नहीं होती। अतएव प्रयोज्य कर्ता में ततीया होती है; जैसे—

आदयति, खादयति वा अन्नं वटुना (बालक को अन्न खिलाा है)—वटुः अन्नम् अत्ति (खादति वा) तम् अन्यः प्रेरयति—यहाँ अद् और खाद् धातु के भक्षणार्थक होने के कारण सूत्र (गतिबुद्धि0) से 'वटु' की कर्म संज्ञा प्राप्त थी। प्रस्तुत वार्तिक के अनुसार वह कर्म संज्ञा नहीं होती। अतएव 'वटु' कर्ता ही रहता है और उसमें ततीया विभक्ति होती है।

*** (वा) भक्षेरहिंसार्थस्य न**

भक्षयत्यन्नं वटुना। अहिंसार्थस्य किम्? भक्षयति बलीवर्दान् सस्यम्।

व्याख्याः **भक्षेरहिंसार्थस्य न (वा)**— जब भक्ष् धातु का भाव हिंसा (पीड़ा देना या हानि पहुँचाना) नहीं होता तो उसके साधारण दशा के कर्ता को णिजन्त के प्रयोग में कर्म संज्ञा नहीं होती। जैसे—

भक्षयति अन्नं वटुना—''वटुकः अन्नं भक्षयति'' (वटु अन्न खाता है) उसे दूसरा प्रेरित करता है—''भक्षयति अन्नं वटुना।'' यहाँ भी कर्म संज्ञा नहीं होती तथा कर्ता में ततीया विभक्ति ही होती है।

अहिंसार्थस्य किमिति— जहाँ 'भक्ष' धातु के भाव से हिंसा प्रकट होती है वहाँ इसके प्रयोज्य कर्ता की कर्म सां हो ही जाती है अतएव 'बलीवर्दान्' में द्वितीया होती है। अन्न की हानि हृदय को पीड़ा पहुँचाती है इसीलिये यहाँ हिंसा है।

*** (वा)जल्पतिप्रभतिनामुपसंख्यानम् जल्पयति भाषयति वा धर्मं पुत्रं देवदत्तः।।**

व्याख्याः **जल्पतीति (वा)**—जल्पति आदि का अण्यन्त अवस्था में जो कर्ता होता है उसकी णिजन्त दशा में कर्म संज्ञा हो जाती है, यह भी कहना चाहिये। जैसे—'पुत्रो धर्मं जल्पति भाषते वा'। पुत्र को देवदत्त प्रेरणा देता है तो प्रयोग होगा—'जल्पयति भाषयति वा धर्मं पुत्रं देवदंत्तः।' यहाँ इस वार्तिक के अनुसार पुत्र की कर्म संज्ञा होकर द्वितीया विभक्ति हो जाती है।

*** (वा) दशेश्च**

दर्शयति हरिं भक्तान्। सूत्रे ज्ञानसामान्यार्थानामेव ग्रहणं न तु तद्विशेषार्थानामित्यनेन ज्ञाप्यते। तेन स्मरतिजिघ्रतीत्यादीनां न। स्मारयति घ्रापयति वा देवदत्तेन।।

व्याख्याः दशेश्च (वा)— दश् (देखना) धातु का साधारण दशा का कर्ता प्रेरणार्थक के प्रयोग में कर्मसंज्ञक हो जाता है। जैसे—'भक्ताः हरिं पश्यन्ति।' उन्हें गुरु प्रेरित करता है—'दर्शयति हरिं भक्तान्'। यहाँ इस नियम से 'भक्त' की कर्म संज्ञा होती है तथा कर्म में द्वितीया विभक्ति हो जाती है।

सूत्रे ज्ञानसामान्यार्थानाम् इति—(गतिबुद्धि आदि) सूत्र में बुद्धि शब्द से ज्ञानसामान्यवाची बुध्, ज्ञा आदि धातुओं का ही ग्रहण होता है, ज्ञानविशेष का वाचक स्मरति, जिघ्रति आदि का नहीं; यह 'दशेश्च' वार्त्तिक से (अनेन) पता चलता है। यदि ज्ञानविशेष की वाचक धातु भी बुद्धि शब्द से ली जाती तो इस वार्त्तिक की आवश्यकता ही नहीं थी; क्योंकि नेत्रों से होने वाला ज्ञान ही दर्शन है। इस ज्ञापक का फल यह होता है (तेन) कि——'स्मारयति घ्रापयति वा देवदत्तेन्' यहाँ 'देवदत्त' की कर्म संज्ञा नहीं होती।

*** (वा) शब्दायतेर्न. शब्दाययति देवदत्तेन. धात्वर्थसंगहीतकर्मत्वेनाकर्मकत्वात्प्राप्तिः. येषां देशकालादिभिन्नं कर्म न संभवति तेत्राकर्मकाः. न त्ववि क्षितकर्माणोपि . तेन मासमासयति देवदत्तमित्यादौ कर्मत्वं भवत्येव. देवदत्तेन पाचयतीत्यादौ तु न।**

व्याख्याः शब्दायेतर्न (वा)— 'शब्दाय' धातु के कर्त्ता की प्रेरणार्थक के प्रयोग में कर्म संज्ञा नहीं होती। 'शब्दाय' यह नाम धातु है। शब्दं करोति इस अर्थ में शब्द+क्यङ् (शब्दवैर0 3.2.17) = शब्दाय। इससे णिच् होकर शब्दाययति बनता है।

शब्दाययति देवदत्तेन 'शब्दायते देवदत्तः' (देवदत्त शब्द करता है) उसको कोई प्रेरणा देता है 'शब्दाययति देवदत्तेन' यहाँ धातु के अर्थ में शब्द रूपी कर्म संगहीत हो गया है अतः यह धातु अकर्मक है और अकर्मक होने के कारण गति० आदि सूत्र से प्रेरणार्थक के प्रयोग में साधारण दशा के कर्त्ता को कर्म संज्ञा प्राप्त होती है। इस वार्त्तिक से उस कर्म संज्ञा का निषेध हो जाता है तथा 'देवदत्तेन' में कर्त्ता में ततीया विभक्ति होती है।

येषामिति-(क) इस सूत्र में अकर्मक धातु वे मानी गई हैं, जिनका देश काल आदि से भिन्न कर्म सम्भव नही।।

(ख) जो धातुएँ कर्म की अविवक्षा होने के कारण अकर्मक हो जाती हैं, वे यहाँ अकर्मक नहीं मानी गई। इसका फल यह होता है—

(1) मासमासयति देवदत्तम्—'मासमास्ते देवदत्तः' उसको दूसरा कोई प्रेरणा देता है—'मासमासयति देवदत्तम्'—यहाँ 'आस्' धातु का यद्यपि 'मास' (काल) कर्म है तथापि वह अकर्मक मानी गई है; कयोंकि 'आस्' धातु का देश काल आदि से भिन्न कर्म नहीं हो सकता। इसलिये इसका साधारण दशा का कर्त्ता 'देवदत्त' प्रेरणार्थक के प्रयोग में कर्मसंज्ञाक हो जाता है और उसमें द्वितीया होती है।

(2) देवदत्तेन पाचयति—'देवदत्तः पचति' यहाँ कर्म अविवक्षित है तथापि पच् धातु अकर्मक नहीं मानी जाती, अतएव 'देवदत्तेन पाचयति' में 'देवदत्त' की कर्म संज्ञा नहीं होती और कर्त्ता में ततीया हो जाती है।

टिप्पणी— व्याकरण शास्त्र की दष्टि से क्रियायें चार प्रकार से अकर्मक होती हैं— 1. धातु का अन्य अर्थ में प्रयोग होने से, जैसे—'वहति भारम्' यहाँ 'वहति' 'प्रापण' (ले जाना) अर्थ में सकर्मक है किंतु 'नदी वहति', यहाँ अर्थ

(स्यन्दन, बहना) में अकर्मक हो जाती है। 2. कर्म के प्रसिद्ध होने से, जैसे—'मेघो वर्षति' यहाँ बरसने का कर्म (जल) प्रसिद्ध ही है। 4. कर्म को न कहने की इच्छा (अविवक्षा) से; जैसे— ''हितान्न संश्शणुते सः किं प्रभुः'' यहाँ 'संश्शणुते' अकर्मक है क्योंकि इसका कर्म अविवक्षित है। कहा भी है—

धातोरथान्तरे वत्तेधात्वर्थेनोपसंग्रहात्।
प्रसिद्धेरविवक्षात कर्मणोकर्मिका क्रिया।।

ह्रक्रोरन्यतरस्याम् 1.4.53

ह्रक्रोरणौ यः कर्ता स णौ वा कर्म स्यात्। हारयति कारयति वा भत्यं भ त्येन वा कटम्।

व्याख्याः ह्रकोरन्यतरस्याम् इति—ह्र (ले जाना), कृ (करना) धातुओं का साधारण दशा का जो कर्ता है वह णिजन्त (प्रेरणार्थक) के प्रयोग में विकल्प से कर्मसंज्ञक होता है।

टिप्पणी— ह्र तथा कृ धातु का गति आदि अर्थ वाली धातुओं में अन्तर्भाव नहीं होता अतः यह अप्राप्त—विभाषा है। ह्र धातु जहाँ भोजन अर्थ में होती है (= अभ्यवहरति) तथा कृ धातु अकर्मक (विकुरुते), वहाँ यह प्राप्त—विभाषा है। इस प्रकार यहा प्राप्ताप्राप्त = उभयत्र विभाषा है।

कारयति भत्यं भत्येन वा कटम्—(भत्य से चटाई बनवाता है)—'भत्यः कटं करोति' (भत्य चटाई बनात है) उसे स्वामी प्रेरणा देता है— ''कारयति भत्यं, भत्येन वा कटम्'' (वह नौकर से चटाई बनवाता है)—जब कर्म संज्ञा नहीं होती तो कर्त्ता में ततीया विभक्ति होती है। इसी प्रकार 'हारयतिं भत्यं भत्येन वा कटम्, (नौकर से चटाई ढुलवाता है)।

*** (वा) अभिवादिदशोरात्मनेपदे वेति वाच्यम्**

अभिवादयते दर्शयते देवं भक्तेन वा।।

व्याख्याः अभिवादिदशोति (वा)— अभिपू र्वक वद् धातु तथा दश् धातु का साधारण दशा का कर्त्ता, णिजन्त के आत्मनेपद के प्रयोग में विकल्प से कर्म हो जाता है।

अभिवादयते देवं भक्तः' (देव भक्त को प्रणाम करता है) उसे कोई प्रेरित करता है—'अभिवादयते देवं भक्तम् भक्तेन वा'— यहाँ कर्म संज्ञा प्राप्त नहीं होती है। पक्ष में कर्ता में ततीया होती है। इसी प्रकार ''पश्यति देवं भक्तः' दर्शयते भक्तं देवं भक्तेन वा'' यह 'दशेश्च' वार्तिक से नित्य कर्म संज्ञा प्राप्त थी। इस वार्तिक से विकल्प से कर्म संज्ञा दिखलाई गई है।

टिप्पणी—अभिवादयते, दर्शयते—यहाँ णिचश्च 1.3.14 से विकल्प से आत्मनेपद होता है। जब आत्मनेपद नहीं होता तब 'अभिवादयति देव भक्तेन' यहाँ कर्ता में ततीया होती है तथा दर्शयति देवं भक्तम्' यहाँ 'दशेश्च' से कर्म संज्ञा होकर द्वितीया होती है।

अधिशीङ्स्थासां. 1.4.46

अधिपूर्वाणामेषाधारः कर्म स्यात्। अधिशेते अधितिष्ठति अध्यास्ते वा वैकुण्ठं हरिः।।

व्याख्याः अधिशीङ् इति— अधि उपसर्गपूर्वक शीङ् (सोना), स्था (ठहरना), आस् (बैठना) धातुओं के आधार की कर्म संज्ञा होती है। यहाँ 'आधारोधिकरणम् 1.4.45 से 'आधार' शब्द की अनुवत्ति होती है। इसी प्रकार आगे के दो सूत्रों में भी।

अधिशेते वैकुण्ठं हरिः—यहाँ वैकुण्ठ अधिशयन का आधार है। इसकी उपर्युक्त नियम से कर्म संज्ञा हो जाती है तथा कर्म में द्वितीया विभक्ति होती है। इसी प्रकार अधितिष्ठति वैकुण्ठं हरिः, 'अध्यास्ते वैकुण्ठं हरिः'।

अभिनिविशश्च. 1.4.47

अभिनीत्येतत्संघातपूर्वस्य विशतेराधारः कर्म स्यात्। अभिनिविशते सन्मार्गम्। परिक्रयणे संप्रदानम्-।1।4।44 इति सूत्रादिह मण्डूकप्लुत्यान्यतरस्यांग्रहणमनुवर्त्य व्यवस्थितविभषाश्रयणात् क्वचिन्न। पापेभिनिवेशः।।

व्याख्याः अभिनिविशश्च—अभि तथा नि उपसर्ग जब दोनों एक साथ इसी क्रम से (संघातरूप) विश् धातु में लगते हैं तब विश् धातु का आधार कर्म–संज्ञक हो जाता है।

अभिनिविशते सन्मार्गम– (सन्मार्ग में लगता है) यहाँ 'सन्मार्ग' की उपर्युक्त नियम से कर्म संज्ञा होकर द्वितीया हो जाती है।

पापेभिनिवेशः—यहाँ 'पाप' अभि नि पूर्वक विश् धातु का आधार है अतः ''अभिनिविशश्च'' नियम के अनुसार 'पाप' की कर्म संज्ञा होकर द्वितीया होनी चाहिये, किन्तु 'परिक्रयणे सम्प्रदानमन्यतरस्याम् (1।4।44) सूत्र से मण्डूकप्लुति (मेढक के समान कूदकर अर्थात् बीच के सूत्रों में जाकर) से 'अन्यतरस्याम्' (वा, विकल्प से) इस सूत्र में ले लिया जाता है और उस विकल्प (विभाषा) को व्यवस्थिति विभाषा (अर्थात् कहीं होना, कहीं नहीं) मानकर कहीं यह नियम (अभिनिविशश्च) नहीं भी लगता। इसी से 'पापेभिनिवेशः'' में पाप की कर्म संज्ञा तथा द्वितीया नहीं होती अपितु आधार में सप्तमी होती है।

उपान्वध्याङ्वसः 1.4.48

उपादिपूर्वस्य वसतेराधारः कर्म स्यात्। उपवसति अनुवसति अधिवसति आवसति वा वैकुण्ठं हरिः।।

व्याख्याः उपान्वध्याङ् वसः— उप, अनु, अधि, आ उपसर्गपूर्वक वस्–धातु का आधार कर्म हो जाता है।

उपवसति वैकुण्ठं हरि—(हरि वैकुण्ठ में बसते हैं)—यहाँ वैकुण्ठ उपपूर्वक 'वस्' धातु का आधार है। उपर्युक्त नियम से 'वैकुण्ठ' की कर्म संज्ञा होकर द्वितीया विभक्ति हो जाती है। इसी प्रकार 'अनुवसति वैकुण्ठं हरिः' 'अधिवसति वैकुण्ठं हरिः', आवसति वैकुण्ठं हरिः'।

(वा) अभुक्त्यर्थस्य न वने उपवसति।।

व्याख्याः अभुक्त्यर्थस्य न (वा)—जब उपपूर्वक 'वस्' धातु का अर्थ 'उपवास करना' (न खाना) होता है तो उसके आधार की कर्म संज्ञा नहीं होती।

वने उपवसति—(वन में उपवास करता है)— यहाँ उपपूर्वक 'वस्' धातु का प्रयोग है। 'वन' उसका आधार है। 'उपान्वध्याङ् वसः' सूत्र के अनुसार यहाँ कर्म संज्ञा होकर द्वितीया विभक्ति प्राप्त थी किंतु इस वार्त्तिक के अनुसार उपवास अर्थ होने के कारण 'वन' की कर्म संज्ञा नहीं होती तथा अधिकरण में सप्तमी विभक्ति होती है।

उपपद द्वितीया विभक्ति-ऊपर जो द्वितीया विभक्ति दिखलाई गई है, वहाँ 'कर्तुरीप्सिततमं कर्म' आदि सूत्रों से कर्म संज्ञा होकर 'कर्मणि द्वितीया' 2.3.2 से कर्म कारक में द्वितीया विभक्ति होती है। अतः वह 'कारक' विभक्ति है।

कभी–कभी उपपद (= पास में उच्चारण किये गये पद) के निमित्त से भी द्वितीया आदि विभक्तियाँ हुआ करती हैं। वे 'उपपद विभक्ति' कही जाती है। उपपद विभक्ति षष्ठी का अपवाद होती है। जैसे–

(वा) उभसर्वतसोः कार्या धिगुपर्यादिशुं त्रिषु। द्वितीयाम्रेडितान्तेषु ततोन्यत्रापि दश्यते उभयतः कृष्णं गोपाः। सर्वतः कृष्णम्। धिक् कृष्णाभक्तम्। उपर्युपरि लोकं हरिः। अध्यधि लोकम्। अधोधो लोकम्।।

व्याख्याः उभसर्वतसोरिति (वा)— वार्त्तिक में चार वाक्यांश है। उनके अर्थ इस प्रकार हैं–1. उभसर्वतसोः द्वितीया कार्या–जब उभी और सर्व शब्द से परे 'तस्' प्रत्यय होता है तो उसके योग में द्वितीया विभक्ति करनी चाहिये। 2. धिक् शब्दस्य द्वितीया कार्या–धिक् शब्द के योग में द्वितीया, 3. उपर्यादिषु आम्रेडितान्तेषु द्वितीया कार्या–'उपर्यध्यधसः सामीप्ये' 8.1.7 में कहे हुए तीन शब्द उपरि, अधि तथा अधः है। जहाँ द्विरुक्ति होती है वहाँ दूसरे को 'आम्रेडित' कहते हैं। उपर्यध्यधसः0 सूत्र से सामीप्य अर्थ में उपरि आदि के स्थान में 'उपरि–उपरि' आदि द्विरुक्त प्रयोग का विधान किया गया है। प्रस्तुत नियम से उनके साथ द्वितीया विभक्ति होनी चाहिये, 4. ततोन्यत्रापि दश्यते–इनसे अन्य स्थलों पर भी द्वितीया देखी जाती है। क्रमशः उदाहरण ये हैं–

(1) उभयतः कृष्णं गोपाः (कृष्ण के दोनों ओर गोपाल हैं)—यहाँ उभयतः के योग में उपर्युक्त नियम से 'कृष्ण' शब्द से द्वितीया विभक्ति हो जाती है। इसी प्रकार 'सर्वतः कृष्णम्।'

(2) धिक् कृष्णाभक्तम् (कृष्ण के अभक्त को धिक्कार है)—यहाँ धिक् शब्द के योग में 'कृष्णाभक्तम्' शब्द से द्वितीया विभक्ति होती है।

टिप्पणी—धिक् के योग में प्रथमा का भी कभी–कभी प्रयोग होता है, जैसे–धिगियं दरिद्रता।

(3) उपर्युपरि लोकं हरिः— {हरि लोक के ठीक (समीप) ऊपर हैं,} यहाँ उपर्युक्त नियम से 'लोक' शब्द से द्वितीया विभक्ति होती है। इसी प्रकार 'अध्यधि लोकम्'— (संसार के समीप देश में) तथा 'अधोधो लोकम्' (संसार के ठीक नीचे) में 'लोक' शब्द से द्वितीया विभक्ति होती है।

(वा) अभितःपरितःसमयानिकषाहाप्रतियोगेपि। अभितः कृष्णम। परितती कृष्णम्। ग्रामं समया। निकषा लङ्काम्। हा कृष्णाभक्तम्। 'तस्य शोच्यते' इत्यर्थः। बुभुक्षितं न प्रतिभाति किचिंत्।।

व्याख्याः 'अभितः इति (वा)— अभितः (दोनों ओर, सब ओर) परितः (चारों ओर, सब ओर) समया, निकषा (समीप), हा (हाय), प्रति के योग में भी द्वितीया विभक्ति होती है (अन्यत्रापि दश्यते की व्याख्या मात्र ही यह वार्त्तिक है)।

अभितः कृषणम (कृष्ण के दोनों ओर—यहाँ अभितः के योग में कृष्ण शब्द से द्वितीया विभक्ति होती है। इसी प्रकार 'परितः कृष्णम्, (कृष्ण के चारों ओर या सब ओर) 'ग्रामं समया' (ग्र्रम के समीप), 'निकषा लङ्काम', (लङ्का के निकट), 'हा कृष्णाभक्तम्' हाय कृष्ण का अभक्त) वह शोचनीय है, यह अर्थ है। ''बुभुक्षितं न प्रतिभाति किचिंत्'' (भूखे को कुछ भी नहीं सूझता) इन सभी के योग में द्वितीया विभक्ति होती है।

अन्तरान्तरेण युक्ते. 2.3.5

आभ्यां योगे द्वितीया स्यात्। अन्तरा त्वां मां हरिः। अन्तरेण हरिं न सुखम्।।

व्याख्याः अन्तरान्तरेण युक्ते—(अन्तरा का अर्थ है—'बीच में 'मध्य में') अन्तरेण का अर्थ है—'मध्य में 'विषय में' विना।' अन्तरा तथा अन्तरेण के योग में द्वितीया विभक्ति होती है।

अन्तरा त्वां मां हरिः (तेरे और मेरे मध्य में हरि है)—यहाँ अन्तरा के योग में 'त्वाम्' और 'माम्' शब्दों में द्वितीया विभक्ति होती है।

अन्तरेण हरिं न सुखम् (हरि के विना सुख नहीं।—यहाँ 'अन्तरेण' के योग में 'हरिम्' में द्वितीया विभक्ति होती है।

कर्मप्रवचनीयाः. 1.4.53

इत्यधिकृत्य।।

व्याख्याः कर्मप्रवचनीयाः इति— इसका अधिकार करके —कर्मप्रवचनीयाः, यह अधिकार सूत्र है। आगे 'विभाषा कृिा 1.4.98 तक के सूत्रों में इस पद का सम्बन्ध होता है।

पाणिनि व्याकरण में कुछ उपसर्गों की विशेष स्थलों पर कर्मप्रचवनीय संज्ञा की गई है। यह अन्वर्थ संज्ञा है। जो पहले क्रिया को कह चुके हैं 'कर्म क्रियां प्रोक्तवन्तः' वे कर्मप्रवचनीय कहलाते हें। उपसर्ग अवस्था में ये क्रिया के अर्थ के द्योतक होते थे। क्रिया के पहले ही इनका प्रयोग होता था किंतु अब क्रिया से पथक् स्वतन्त्र रूप में इनका प्रयोग हुआ करता है ये क्रिया के द्योतक नहीं होते, न सम्बन्ध के वाचक होते हैं, न किसी क्रिया पद का आक्षेप ही कराते हैं किंतु (वाक्यस्थ पदों के) सम्बन्ध में भेद कराने वाले होते हैं[१]। अर्थात् विभक्ति–विधान के निमित्त होते हैं।

अनुर्लक्षणे. 1.4.84

लक्षणे द्योत्येनुरुक्तसंज्ञः स्यात्। गत्युपसर्गसंज्ञापवादः।

---

१. क्रियाया द्योतको नायं, सम्बन्धस्य न वाचकः।
नापि क्रिया पदाक्षेपी सम्बन्धस्य तु भेदकः।। (वाक्यपदीय)

व्याख्याः अनुर्लक्षणे–किसी लक्षण को द्योतित करने में 'अनु' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है। जिससे कोई बात जानी जाती है, उसे लक्षण (सूचक) कहते हैं–'लक्ष्यते ज्ञायतेनेनति' लक्षणम्। यहाँ हेतु के रूप में होने वाला लक्षण विवक्षित है। कर्मप्रवचनीय संज्ञा गति और उपसर्ग संज्ञा का अपवाद है अर्थात् लक्षण अर्थ में अनु की गति और उपसर्ग संज्ञा न होकर कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है।

कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया। 2.3.8

एतेन योगे द्वितीया स्यात्। पर्जन्यो जपमनु प्रावर्षत्। हेतुभूतजपोपलक्षितं वर्षणमित्यर्थः। परापि हेताविति ततीयानेन बाध्यते। लक्षणेत्थंभूत- इत्यादिना सिद्धे पुनः संज्ञाविधानसामर्थ्यात्।

व्याख्याः कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया–कर्मप्रवचनीय के योग में द्वितीया विभक्ति होती है।

पर्जन्यो जपमनुप्रावर्षत्–इसका अर्थ है–हेतु रूप जप से उपलक्षित वर्षा, अर्थात् जप करने से उसके पश्चात् वर्षा हुई। यहाँ हेतु और ज्ञापकता (लक्षण) दोनों द्वितीया के अर्थ हैं, ये दोनों 'अनु' द्वारा प्रकट होते हैं। उपर्युक्त नियम से 'अनु' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होकर उसके योग में 'जप' शब्द से द्वितीया विभक्ति होती है।

परापि हेतौ ततीयेति–यद्यपि हेतौ–सूत्र से होने वाली ततीया इससे परे है और पाणिनि व्याकरण में दो तुल्य कार्यों का विरोध होने पर परे वाला कार्य होता है[२]। तथापि उसे बाध कर 'जपमनु' में द्वितीया ही होती है, क्योंकि 'लक्षणेत्थं' 1.4.90 से अनु की कर्मप्रवचनीय संज्ञा हो ही जाती फिर 'अनुर्लक्षणें 1.4.84' से लक्षण अर्थ में कर्मप्रवचनीय संज्ञा कहने की क्या आवश्यकता थी। यह संज्ञा इसलिये की गई है क लक्षण द्योतित करने में द्वितीया ही होनी चाहिये, ततीया नहीं।

ततीयार्थे . 1.4.85

अस्मिन् द्योत्येनुरुक्तसंज्ञः स्यात। नदीमन्ववसिता सेना। नद्या सह संबद्धेत्यर्थः।। षि् बन्धे क्तः।।

व्याख्याः ततीयार्थे–जब 'अनु' ततीया के अर्थ अर्थात् सहभाव को प्रकट करता है तो उसकी कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है।

नवीमन्ववसिता सेना–इसका अर्थ है–''सेना नदी के साथ सम्बद्ध है।' 'नदीम् अनु अवसिता' में 'अवसित' शब्द अव उपसर्ग पूर्वक षि् बन्धने धातु से 'क्त' प्रत्यय होकर बना है अतः 'सम्बद्ध' अर्थ होता है। यहाँ ऊपर के नियम से 'अनु' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होकर उसके योग में 'नदीम्' में द्वितीया विभक्ति हो जाती है।

हीने 1.4.86

हीने द्योत्येनुः प्राग्वत्। अनु हरिं सुराः हरेर्हीना इत्यर्थः।।

व्याख्याः हीने–हीनता को द्योतित करने में अनु की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है।

अनु हरिं सुराः–इसका अर्थ है देवलोग हरि से हीन हैं घटकर हैं। यहाँ अनु हीन अर्थ को द्योतित करता है अतः इसकी कर्मप्रवचीनय संज्ञा हो जाती है और इसके योग में हरि' शब्द से द्वितीया विभक्ति होती है। जिस शब्द में द्वितीया होती है उससे भिन्न पदार्थ की हीनता प्रकट हुआ करती है। यहाँ हरि की अपेक्षा देवों की हीनता प्रकट हो रही है।

उपोधिके च 1.4.87

अधिके हीने च द्योत्ये उपेत्यव्ययं प्राक्संज्ञं स्यात्। अधिके सप्तमी वक्ष्यते। हीने, उप हरिं सुराः।।

व्याख्याः उपोधिके च –अधिक या हीन का अर्थ द्योतित करने में 'उप' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है। जब वह 'अधिक' अर्थ को द्योतित करता है तो सप्तमी होती है, यह आगे कहा जायेगा।

उप हरिं सुराः–(देवता हरि से कम है)–यहाँ हीन अर्थ को द्योतित करने में 'उप' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है तथा इसके योग में 'हरि' से द्वितीया विभक्ति होती है।

---

२. विप्रतिषेये परं कार्यम् १।४।२।।

लक्षणेत्थंभूताख्यानभागवीप्सासु प्रतिपर्यनवः1.4.9

एष्वर्थेषु विषयभूतेषु प्रत्यादय उक्तसंज्ञाः स्युः। लक्षणे, वक्षं प्रति पर्यनु वा विद्योतते विद्युत्। इत्थंभूताख्याने, भक्तो विष्णुं प्रति पर्यनु वा। भागे, लक्ष्मीर्हरिं प्रति पर्युनु वा। हरेर्भाग इत्यर्थः। वीप्सायाम्, वक्षं वक्षं प्रति पर्यनु वा सिचति। अत्रोपसर्गत्वाभावान्न षत्वम्। एषु किम्? परिषिचति।।

व्याख्याः लक्षणेत्थम् इति–लक्षण, इत्थभूताख्यान, भाग और वीप्सा आदि अर्थों में प्रति, परि तथा अनु की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है।

(1) वक्ष प्रति विद्योतते विद्युत्–(वक्ष की ओर बिजली चमकती है)–यहाँ वक्ष बिजली चमकने को लक्षित करता हैं यह लक्षण (ज्ञापक) हैं 'प्रति' लक्षण को प्रकट करता है अतः प्रति की उपर्युक्त नियम से कर्मप्रवचनीय संज्ञा होकर इसके योग में 'वक्ष' शब्द से द्वितीया विभक्ति होती है। इसी प्रकार 'वक्षं परि, वक्षम् अनु विद्योतते विद्युत्'।

भक्तो विष्णुं प्रति (विष्णु के प्रति भक्त है)–यह इत्थंभूताख्यान का उदाहरण है। 'इत्थं' का अर्थ है–इस प्रकार। इत्थंभूः–इस प्रकार का हुआ। जहाँ 'यह इस प्रकार का है' इसका आख्यान (कथन) किया जाता है वहाँ 'प्रति' आदि की कर्मप्रवचनीय संज्ञा हो जाती है। इस प्रकार उपर्युक्त नियम से प्रति की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होकर इसके योग में 'हरि' शब्द से द्वितीया विभक्ति होती है। इसी प्रकार 'भक्तो विष्णुं परि', भक्तो विष्णुम् अनु'।

लक्ष्मीर्हरिं प्रति–इसका अर्थ है–लक्ष्मी हरि का भाग रहा अर्थात् लक्ष्मी हरि की प्राप्त हो। यहाँ लक्ष्मी के प्रति हरिं का स्वामित्व 'प्रति' आदि से द्योतित होता है अतः 'भाग' अर्थ में उपर्युक्त नियम से प्रति की कर्मप्रवचनीय संज्ञा हो जाती है और उसके योग में 'हरि' शब्द से द्वितीया विभक्ति होती है। इसी प्रकार 'लक्ष्मीः हरिं परि' 'लक्ष्मीः हरिम् अनु'।

वक्षं वक्षं प्रति सिचति (प्रत्येक वक्ष को सींचता है)–यह वीप्सा का उदाहरण है। वीप्सा का अर्थ है–'व्याप्तुमिच्छा' अर्थात् किसी क्रिया का प्रत्येक वस्तु से सम्बन्ध करने की इच्छा। किसी वस्तु को दो बार कहा जाए उसे वीप्सा कहते हैं। यहाँ वीप्सा अर्थ में 'प्रति' आदि की कर्मप्रवचनीय संज्ञा हो जाती है।अतएव उपसर्ग संज्ञा नहीं रहती। उपसर्ग संज्ञा का अभाव होने से 'प्रति सिचति' यहाँ 'स्' को 'ष्' नहीं होता। उपसर्ग से परे होने पर ही ''उपसर्गत् सुनोति0 8।3।35। सूत्र से षत्व होता है। यहाँ वक्षं में द्वितीया विभक्ति कर्म में ही होती है। इसी प्रकार 'वक्षं वक्षं परि–सिचति' वक्षं वक्षम् अनुसिचति।'

एषु किमिति–'लक्षण' आदि चार अर्थों के विषय में ही प्रति आदि की कर्म प्रवचनीय संज्ञा होती है, ऐसा क्यों कहा? इसलिये कि इनसे भिन्न अर्थ में नहीं होती, अतएव 'परिषिचति' में लक्षण आदि अर्थ न होने के कारण 'परि' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा नहीं होती। उसकी उपसर्ग संज्ञा हो जाने से 'स्' को 'ष्' हो जाता है।

अभिरभागे. 1.4.91

भागवर्जे लक्षणादावभिरुक्तसंज्ञः स्यात्। हरिंमभि वर्तते। भक्तो हरिमभि। देवं देवमभिसिचति। अभागे किम्? यदत्र ममाभिष्यात्तद्दीयताम्।।

व्याख्याः अभिरभागे–भाग को छोड़कर ऊपर कहे हुए शेष तीन अर्थों के विषय में अभि की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है।

(1) हरिमभि वर्तते–(लक्षण) (2) भक्तो हरिमभि (इत्त्थंभूताख्यान) यहाँ 'अभि' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होकर उसके योग में द्वितीया होती है।

(3) देवं देवमभिसिचति (वीप्सा)। यहाँ 'स्' को ष् नहीं होता।

अभागे किमिति–भाग अर्थ के विषय में 'अभि' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा नहीं होती। इसका परिणाम यह होता है कि 'यदत्र ममाभिष्यात् तद् दीयताम्' (जो यहाँ मेरा भाग हो वह दीजिये) यहाँ 'अभि' की उपसर्ग संज्ञा ही रहती है और 'स्यात्' में स् को ष् हो जाता है (उपसर्गप्रादुर्भ्यामस्तिर्यच्परः 8.3.47

अधिपरी अनर्थकौ.1.4.93

उक्तसंज्ञौ स्तः कुतोध्यागच्छति। कुतः पर्यागच्छति। गतिसंज्ञाबाधात् 'गतिर्गतौ 8.1.70 इति निधातो न।।

व्याख्याः अधिपरी अनर्थकौ—अनर्थक अधि और परि की कर्म प्रवचनीय संज्ञा होती है।

कुतोयमागच्छति- (वह कहाँ से आता है?) —यहाँ 'अधि' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा हो जाने से 'गति' संज्ञा नहीं होती। गति संज्ञा के न होने से (गतिसंज्ञाबाधात्) गतिर्गतौ 8.1.70 इस सूत्र से 'अधि' को आ (आ.आ+गच्छति) परे हाने पर सर्वानुदात्त (निघात) नहीं होता। आगच्छति में 'आ' गतिसंज्ञक है।

टिप्पणीः 'निधात' शब्द का अर्थ है—सर्वानुदात्त (अर्थात् किसी शब्द के सभी स्वरों का अनुदात्त स्वर हो जाना)।

सुः पूजायाम. 1.4.94

सुसिक्तम्। सुस्तुतम्। अनुपसर्गत्त्वान्न षः। पूजायां किम्? सुषिक्तं किं तवात्र। क्षेपोयम्।।

व्याख्याः सुः पूजायाम्—पूजा अर्थ में सु की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है।

सुसिक्तम्—'भली भाँति सींचा गया' पूजा का अर्थ यहाँ प्रशंसा है। यहाँ सु' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा हो जाने से इसकी उपसर्ग संज्ञा नहीं रहती तथा उपसर्ग संज्ञा के अभाव में स् को ष् नहीं होता। इसी प्रकार 'सुस्तुतम्'।

पूजायां किमिति—पूजा अर्थ में ही सु की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है। ऐसा क्यों? इसलिये कि ''सुषिक्तं किं स्यात् तवात्र'' अर्थात् वह क्या है जिसे तुमने अच्छी तरह सींचा है। यहाँ क्षेप (निन्दा) का भाव निकलता है अतः 'सु' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा नहीं होती तथा उपसर्ग संज्ञा हो जाती है। उपसर्ग संज्ञा हो जाने से 'सुषित्त' में 'स्' को 'ष्' हो जाता है।[1]

अतिरति क्रमणे च. 1.4.95

अतिक्रमणे पूजायां चातिः कर्मप्रवचनीयसंज्ञः स्यात्। अति देवान् कृष्णः।।

व्याख्याः अतिक्रमण तथा पूजा अर्थ में 'अति' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है। अतिक्रमण का अर्थ है— बढ़कर होना अथवा सीमा का लाँघना।

अति देवान् कृष्णः—(कृष्ण देवों से बढ़कर हैं या कृष्ण देवों के पूज्य हैं)। उपर्युक्त नियम से 'अति' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होकर, उसके योग में 'देवान्' में द्वितीया विभक्ति हो जाती है।

अपिः पदार्थसंभावनान्ववसर्गगर्हासमुच्चयेषु. 1.4.96

एषु द्योत्येष्वपिरुक्तसंज्ञः स्यात्। सर्पिषोपि स्यात्। अनुपसर्गत्वान्न षः। संभावनायां लिङ्। तस्या एव विषयभूते भवने कर्तदौर्लभ्यप्रयुक्तं दौर्लभ्यं द्योतयन्नपिशब्दः स्यादित्यनेन संबध्यते। सर्पिष इति षष्ठी तु अपिशब्दबलेन गम्यमानस्य बिन्दोरवयवावयविभावसंबन्धे। इयमेव ह्यपिशब्दस्य पदार्थद्योतकता नाम। द्वितीया तु नेह प्रवर्तते। सर्पिषो बिन्दुना योगो न त्वपिनेत्युक्तत्वात्। अपि स्तुयाद्विष्णुम; संभावनं शक्तयुत्कर्षमाविष्कर्तुमत्युक्तिः अपि स्तुहि, अन्वसर्गः कामचारानुज्ञा। धिग्देवदत्तम्, अपि स्तुयाद् वषलम्, गर्हा। अपि सिच अपि स्तुहि; समुच्चये।।

व्याख्याः अपिः पदार्थ इति—पदार्थ, संभावना, अन्ववसर्ग, गर्हा तथा समुच्चय इन अर्थों को द्योतित करने में 'अपि' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है। अपि अप्रयुक्त पद के अर्थ को द्योतित करता है। सर्पिषोपि स्यात्' का अर्थ है—''सर्पिर्बिन्दुः स्यात्''। अपि बिन्दु का द्योतक है। इसकी कर्मप्रवचनीय संज्ञा हो जाने से उपसर्ग संज्ञा नहीं होती तथा 'स्यात्' के स् को ष् नहीं होता, क्योंकि वह उपसर्ग से परे ही हो सकता है।

सम्भावनायां लिङ् इति-सर्षिषोपि स्यात् में स्यात् शब्द अस् धातु से लिङ् लकार में बना है। यहाँ सम्भावना अर्थ में लिङ् लकार है। 'किस की संभावना'? संभवतः घी भी हो इस आकांक्षा में अस् धातु का अर्थ होना' (भवन या सत्ता) अस् (भुवि, भू सत्तायाम्) उस संभावना का विषय हो जाता है अर्थात् होने की संभावना है। तब होना (भवन) के कर्ता (बिन्दु) को ण्०'अपि' द्योतित करता है और कर्ता की दुर्लभता के कारण 'होना' क्रिया की दुर्लभता को भी द्योतित करता है तथा उस (अपि) का अन्वय 'स्यात्' से हो जाता है। यहाँ 'अपि से बिन्दु अर्थ गम्यमान है।

सर्पिस् (घत) से बिन्दु का ''अवयवावयविभाव'' सम्बन्ध है अर्थात् सर्पिस् अवयवी है और बिन्दु अवयव है, इसी हेतु 'सर्पिषः' में षष्ठी विभक्ति है। यही अपि की पदार्थ –द्योतकता है। यहाँ अपि (कर्मप्रवचनीय) के योग में 'सर्पिस्' शब्द से द्वितीया विभक्ति नहीं होती, क्योंकि 'सर्पिस्' का बिन्दु से सम्बन्ध है 'अपि' से नहीं, यह कहा जा चुका है।

अपि स्तुयाद्विष्णुम् (क्या विष्णु की स्तुति कर सकेगा?)—यह सम्भावना का उदाहरण है। सम्भावना का अर्थ है—शक्ति के उत्कर्ष को प्रकट करने के लिये अत्युक्ति करना। यहाँ भी कर्मप्रवचनीय संज्ञा होने से उपसर्ग संज्ञा नहीं रहती और 'स्तुयात्' के 'स्' को 'ष्' (उपसर्गात् 8.3.65) नहीं होता।

अपि स्तुहि (अच्छा स्तुति करो अथवा नहीं)—यह अन्ववसर्ग का उदाहरण है। अन्ववसर्ग का अर्थ है—यथेष्ट कार्य करने की अनुमति देना। यहाँ कर्मप्रवचनीय संज्ञा का फल है—उपसर्ग संज्ञा का बाध हो जाना तथा स् को ष् न हो।

धिग्वेदत्तम् अपि स्तुयाद् वषलम् (देवदत्त को धिक्कार है, वह शूद्र की स्तुति करता है)—यहाँ गर्हा अर्थ 'अपि' द्वारा द्योतित किया गया है। गर्हा का अर्थ है—निन्दा। कर्मप्रवचनीय संज्ञा हो जाने से (उपसर्गात् 8.5.65) षत्व नहीं होता।

अपि सिच, अपि स्तुहि (सींचो भी स्तुति भी करो) –यहाँ अपि द्वारा समुच्चय द्योतित किया गया है। कर्मप्रवचनीय संज्ञा के कारण 'स्' को 'ष्' (उपसर्गात्0 8.3.65) नहीं होता।

कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे. 2.3.5

इह द्वितीया स्यात्। मासं कल्याणी। मासमधीते। मासं गुडधानाः। क्रोशं कुटिला नदी। क्रोशमधीते। क्रोशं गिरिः। अत्यन्तसंयोगे किम्? मासस्य द्विरधीते। क्रोशस्यैकदेशे पर्वतः।। इति द्वितीया।

व्याख्याः काला ध्वनोरत्यन्तसंगोगे—अत्यन्त संयोग में समयवाची तथा मार्गवाची से द्वितीया विभक्ति होती है। अत्यन्तसंयोग का अर्थ है—निरन्तर संयोग। किसी गुण, क्रिया या द्रव्य का किसी काल या मार्ग में पूर्ण रूप से रहना।

मास कल्याणी (पूरे मास कल्याणकारिणी) यहाँ कल्याण (गुण) मास भर में लगातार रहता है—अतः उपर्युक्त नियम से मास (कालवाचक) में द्वितीया विभक्ति होती है। इसी प्रकार—

क्रोशं कुटिला नदी—(पूरे कोस तक नदी टेढ़ी है) यहाँ मार्गवाची 'क्रोश' से भी द्वितीया होती है।

मासमधीते—(पूरे मास पढ़ता है)—यहाँ अध्ययन क्रिया मास भर लगातार चलती है अतः मास शब्द से द्वितीया विभक्ति होती है। इसी प्रकार मार्गवाचक क्रोश शब्द से भी 'क्रोशमधीते' में द्वितीया होती है।

मासं गुडधानाः (पूरे मास गुड़धान हैं)—यहाँ गुड़धान (द्रव्य) पूरे मास लगातार चलते हैं अतः अत्यन्तसंयोग में मास शब्द से द्वितीया विभक्ति होती है। इसी प्रकार 'क्रोशं गिरिः' में भी।

अत्यन्तसंयोगे किम्—यदि गुण क्रिया और द्रव्य का कालवाचक या मार्गवाचक से निरंतर सम्बन्ध (अत्यन्तसंयोग) होता है तो कालवाची या मार्गवाची से द्वितीया विभक्ति होती है, ऐसा क्यों कहा? इसलिये कि यदि कालवाची या मार्गवाची के एक अंश से गुण आदि का सम्बन्ध होगा तो द्वितीया विभक्ति न होगी। जैसे –मासस्य द्विरधीते (महीने में दो बार पढ़ता है) यहाँ अध्ययन क्रिया का मास से लगातार सम्बन्ध नहीं अतः मास से द्वितीया विभक्ति नहीं होती अपितु सम्बन्ध में षष्ठी विभक्ति ही होती है। इसी प्रकार 'क्रोशस्यैकदेशे पर्वतः' में भी।।

द्वितीया विभक्ति समाप्त

ततीया विभक्ति

स्वतन्त्रः कर्त्ता 1.4.54

कियायां स्वातन्त्र्येण विवक्षितोर्थः कर्ता स्यात्।

व्याख्याः क्रिया में स्वतंत्रता से विवक्षित पदार्थ कर्ता कहलाता है।

१. उपसर्गात् सुनाति० ८।३।३५।।

कारक विवक्षा के अधीन हैं, नियत नहीं–'विवक्षातः कारकाणि भवन्ति', अतः क्रिया का जो आश्रय है उसे ही कर्ता कहते हैं, चाहे वह जड़ हो या चेतन। जैसे–'देवदत्तस्तिष्ठति, वक्षस्तिष्ठति'।

साधकतमं करणम्. 1.4.42

क्रियासिद्धौ प्रकृष्टोपकारकं करणंसंज्ञं स्यात्। तमब्ग्रहण किम्? गङ्गायां घोषः।।

व्याख्याः क्रिया की सिद्धि में जो कारक सबसे अधिक प्रबल होता है उसकी करण संज्ञा होती है।

साधकतम शब्द का अर्थ है–प्रकष्ट उपकारक अर्थात् सबसे अधिक सहायक। जिस पदार्थ के द्वारा क्रिया की सिद्धि हो जाती है, वही प्रकृष्ट उपकारक है उसकी करण संज्ञा होती है।

तमब्ग्रहणं किमिति''साधकं करणम्', ऐसा ही कह देते, कारक का प्रकरण है ही और कारक और साधक पर्याय हैं अतः पुनः साधक ग्रहण से प्रकृष्ट साधक, यह समझ लिया जाता–फिर प्रकष्ट अर्थ को प्रकट करने के लिये तमप् प्रत्यय क्यों लगाया? इसलिये–क्रिया की सिद्धि में अनेक कारक प्रयुक्त होते हैं। उनमें जो सर्वाधिक समर्थ हो उसे करण कहते हैं। मप् ग्रहण करने से यह विदित होता है कि इस कारक प्रकरण में अन्वर्थ संज्ञा के बल से प्राप्त हुआ विशेष अर्थ नहीं लिया जाता। इस ज्ञापन का फल यह होता है कि 'आधारोधिकरणम्' से आधार मात्र की अधिकरण संज्ञा हो जाती है। केवल विशेष आधार की ही नहीं। अतः 'गङ्गायां घोषंः'–(गङ्गा के तट पर घोसी रहते हैं।) यहाँ भी अधिकरण संज्ञा होकर सप्तमी हो जाती है। अन्यथा 'तिलेषु तैलम् आदि में जहाँ पूर्णतया व्यापक आधार है वहीं सप्तमी होती।

कर्तकरणयोस्ततीया . 2.3.18

अनभिहिते कर्तरि करणे च ततीया स्यात्। रामेण बाणेन हतो वाली।

व्याख्याः कर्त करणयोरिति–अनुक्त कर्ता और करण में ततीया विभक्ति होती है। जहाँ कर्मवाच्य और भाववाच्य का प्रयोग होता है वहाँ कर्ता अनुक्त होता है; जैसे –''लक्ष्म्या सेव्यते''। अतः यहाँ 'लक्ष्म्या' में ततीया विभक्ति है।

रामेण बाणेन हतो वाली– यहाँ 'हतः' में कर्मवाच्य में 'क्त' प्रत्यय हुआ है, राम का कर्तापन अनुक्त है; अतः राम से उपर्युक्त नियम से ततीया हो जाती है। अभिधान क्रिया के द्वारा होता है। यहाँ क्रिया कर्म वाली का अभिधान कर रही है, राम का नहीं। अतः राम अनमिहित है। मारने का प्रकृष्ट साधन बाण' है इसकी 'साधकतमं करणम्' से करण संज्ञा होकर इसमें भी ततीया विभक्ति होती है।

***(वा) प्रकृत्यादिभ्य उपसंख्यानम्**

प्रकृत्या चारुः। प्रायेण याज्ञिकः। गोत्रेण गार्ग्यः। समेनति। विषमेणैति। द्विद्रोणेन धान्यं क्रीणाति। सुखेन दुःखेन वा यातीत्यादि।।

व्याख्याः प्रकृत्यादिभ्य इति (वा)–प्रकृति आदि शब्दों से ततीया विभक्ति होती है।

प्रकृत्या चारुः (स्वभाव से सुन्दर)–यहाँ प्रकृति शब्द से ततीया विभक्ति हो जाती है। इसी प्रकार प्रायेण याज्ञिकः (प्रायः याज्ञिक है) गोत्रेण गार्ग्यः (गोत्र से गार्ग्य है), समेनेति (समगति से चलता है), विषमेणेति (विषम चलता है) आदि में भी ततीया विभक्ति होती है। ये शब्द प्रायः क्रियाविशेषण हैं। इन विशेष शब्दों के साथ ततीया भिक्ति नियत है। कहीं–कहीं ये करण के अर्थ को भी प्रकट करते हैं। जहाँ ये करण होते हैं वहाँ तो करण में ततीया हो जाती है।

द्विद्रोणेन धान्यं क्रीणाति (दो द्रोण सम्बन्धी अन्न खरीदता है)–यहाँ ''दो द्रोण सम्बन्धी धान्य'' इस अर्थ में षष्ठी प्राप्त थी, उपर्युक्त नियम से ततीया विभक्ति होती है।

सूखेनदुःखेन वा याति (सुखपूर्वक या दुःखपूर्वक जाता है)–यहाँ 'सुख' आदि शब्द क्रियाविशेषण हैं क्रियाविशेषण में द्वितीया विभक्ति हुआ करती है उसके स्थान पर उपर्युक्त (प्रकृत्यादिभ्यः) नियम से ततीया विभक्ति हो जाती है।

टिप्पणीः 'प्रकृति' आदि गण आकृति गण है अर्थात् इस प्रकार की ततीया गणपाठ में अपठित शब्दों में भी देखी जाती है, इसलिय ''नाम्ना सुतीक्ष्ण'' ''चरितेन दानतः'' यहाँ भी ततीया होती है।

दिवः कर्म च. 1.4.43

दिवः साधकतमं कारकं कर्मसंज्ञं स्याच्चात्करणसंज्ञम्। अक्षैरक्षान्वा दीव्यति।।

व्याख्याः दिव् (जुआ खेलना) धातु के साधकतम कारक की कर्म संज्ञा होती है और करण संज्ञ भी।

अक्षैः अक्षान् वा दीव्यति–(पासों से खेलता है)–यहाँ अक्ष (पासे) जुआ खेलने के साधन हैं, अतः करण संज्ञा होकर ततीया ही होनी चाहिये थी। इस नियम से विकल्प से कर्म संज्ञा होकर द्वितीया भी होती है।

अपवर्गे ततीया . 2.3.6

अपवर्ग फलप्राप्तिस्तस्यां द्योत्यायां कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे ततीया स्यात्। अह्ना क्रोशेन वानुवाकोधीतः। अपवर्गे किम्? मासमधीतो नायातः।।

व्याख्याः अपवर्ग का अर्थ है–फल–प्राप्ति। फल–प्राप्ति या कार्यसिद्धि का बोध कराने के लिये कालवाची तथा मार्गवाची शब्दों से अत्यन्त–संयोग में ततीया विभक्ति होती है।

टिप्पणीः इस सूत्र के अर्थ में 'कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे'। 2.3.5 सूत्र का संबंध किया जाता है तभी यह अर्थ होता है। यह ततीया विभक्ति द्वितीया का बाधक है।

अह्ना क्रोशेन वा अनुवाकोधीतः–(दिन भर या कोस भर निरन्तर कार्य करके अनुवाक पढ़ लिया)–जितने समय या मार्ग में कार्य पूरा हो जाता है उस कालवाची या मार्गवाची शब्द से ततीया विभक्ति होती है। यदि दिन भर में अनुवाक नाम का वेद का अंश पूरा पढ़ लिया तो कालवाची अहन् (दिन) शब्द से ततीया विभक्ति होगी तथा मार्गवाची 'क्रोश' शब्द से भी। इसी प्रकार 'द्वादशवर्षैर्व्याकरणं श्रूयते' आदि प्रयोग समझने चाहियें।

अपवर्गे किमिति–'फल प्राप्ति होने पर' ऐसा क्यों कहा? इसलिये कि निरन्तर कार्य करते हुए भी कार्य की सिद्धि नहीं होती तो कालवाची या मार्गवाची से ततीया नहीं होती अपितु पहले नियम के अनुसार (कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे) द्वितीया ही होती है। जैसे–मासमधीतो नायातः–'मास भर निरन्तर पढ़ा किन्तु आया नही।' यहाँ मास' में द्वितीया ही होती है।

सहयुक्तेप्रधाने च .2.3.19

सहार्थेन युक्ते अप्रधाने ततीया स्यात्। पुत्रेण सहागतः पिता। एवं साकं-सार्धं-समंयोगेपि'। विनापि तद्योगं ततीया। 'वद्धो यूना। 1.2.65 इत्यादिनिर्देशात्।।

व्याख्याः साथ (सह) के अर्थ के योग में अप्रधान (अर्थात् वाक्य के प्रधान कर्ता का साथ देने वाले) के वाचक शब्द में ततीया विभक्ति होती है।

पुत्रेण सहागतः पिता (पुत्र के सहित पिता आया)– यहाँ आगमन क्रिया का मुख्य संबंध पिता से है अतः पिता प्रधान कर्ता है, पुत्र अप्रधान है, इसलिये पुत्र शब्द से ततीया होती है। इसी प्रकार साकम्, सार्धम्, समम् के योगमें भी ततीया होती है। जैसे –आस्स्व साकं मया साधे (भट्टि 0 8 ।70), वनं मया सार्धमसि प्रपन्नः (रघु0 14,63), आहो निवत्स्यति समं हरिणाङ्गनाभिः (शाकु0 1, 27)।

विनापीति–यदि सह आदि शब्दों का प्रयोग न हो और इनका अर्थ प्रकट होता हो तो भी ततीया विभक्ति होती है। स्वयं आचार्य पाणिनि ने ''वद्धो'' यूना (1 ।2 ।65) इत्यादि सूत्र में युवन् शब्द से ततीया का प्रयोग किया है इसी प्रकयोग से यह ज्ञात होता है।

योनाङ्गविकारः. 2.3.20

येनाङ्गेन विकृतेनाङ्गिनो विकारो लक्ष्यते ततस्ततीया स्यात्। अक्ष्णा काणः। अक्षिसंबन्धिकाणत्वविशिष्ट इत्यर्थः। अङ्विकारः किम्? अक्षि काणमस्य।।

व्याख्याः येनाङ्गविकारः— जिस विकृत अङ्ग से अङ्गी का विकार लक्षित होता है उस अङ्वाची शब्द से तृतीया विभक्ति होती है।

अक्ष्णा काणः—(आँख से काना) यहाँ आँख के विकृत होने से व्यक्ति (अङ्गी) का कानापन लक्षित होता है, अतः आँखवाची 'अक्षि' शब्द से तृतीया विभक्ति होती है। व्यक्ति की आँख में कानापन है यह अर्थ होता है। इसी प्रकार 'पादेन खञ्जः' 'शिरसा खल्वाटः' कर्णेन बधिरः' आदि।

अङ्गविकारः किमिति—सूत्र में अङ्गविकार शब्द का क्या तात्पर्य है? यहाँ 'अङ्ग' शब्द अङ्गी के अर्थ में है (अङ्गमस्यास्ति इति अङ्गः——अर्श आदिभ्योच् अतएव जहाँ अङ्ग के विकार से अङ्गी का विकार लक्षित होता है वहीं अङ्गवाची से तृतीया होती है। 'अक्षि काणमस्य' से आँख का कानापन ही कहा गया है। इससे किसी व्यक्ति का कानापन लक्षित नहीं होता अतः यहाँ अक्षि शब्द से तृतीया विभक्ति नहीं होती।

इत्थंभूतलक्षणे. 2.3.21

कचित्प्रकारं प्राप्तस्य लक्षणे तृतीया स्यात्। जटाभिस्तापसः। जटाज्ञाप्यतापसत्वविशिष्ट इत्यर्थः।।

व्याख्याः इत्थंभूलक्षणे—इत्थंभूत शब्द का अर्थ है—इस प्रकार का है, किसी विशेष दशा को प्राप्त हुआ। किसी विशेष दशा की प्राप्ति का बोध कराने वाले चिह्न में तृतीया विभक्ति होती है।

जटाभिस्तापसः (जटाओं से तपस्वी) जिस व्यक्ति का तपस्वी होना जटाओं से लक्षित होता है उसके लिये यह प्रयोग है। यहाँ जटा तपस्वीपन का ज्ञापक (लक्षण) है। इससे उपर्युक्त नियमानुसार तृतीया विभक्ति होती है। जटाओं से लक्षित तपस्वीपन। जटाओं को देखकर यह अनुमान हो जाता है कि अमुक व्यक्ति तपस्वी है।

संज्ञोन्यतरस्यां कर्मणि .2.3.22

संपूर्वस्य जानातेः कर्मणि तृतीया वा स्यात्। पित्रा पितरं वा संजानीते।।

व्याख्याः सम् उपसर्ग पूर्वक ज्ञा धातु के कर्म में विकल्प से तृतीया विभक्ति होती है। पक्ष में द्वितीया होती है।

पित्रा पितरं वा संजानीते (पिता को सम्यक् जानता है)—यहाँ कर्म होने से केवल द्वितीया प्राप्त थी। उपर्युक्त नियम से विकल्प से तृतीया होकर 'पित्रा' प्रयोग भी होता है।

हेतौ. 2.3.23

हेत्वर्थे तृतीया स्यात्। द्रव्यादिसाधारणं निर्व्यापारसाधरणं च हेतुत्वम् करणत्वं तु क्रियामात्रविषयं व्यापारनियतं च । दण्डेन घटः। पुण्येन दष्टो हरिः। फलमपीह हेतुः। अध्ययनेन वसति। गम्यमानापि क्रिया कारकविभक्तौ प्रयोजिका। अलं श्रमेण। श्रमेण। साध्यं नास्तीत्यर्थः। साधनक्रियां प्रति श्रमः करणम्। शतेन शतेन वत्सान्पाययति पयः। शतेन परिच्छिद्येत्यर्थः।।

व्याख्याः हेर्त—हेतु अर्थ में शब्द से तृतीया विभक्ति होती है। करण और हेतु में भेद है; अतः इस सूत्र से हेतु में तृतीया कही गई है 'कर्तकरणयोस्ततीया' से करण में। हेतु और करण में भेद यह है कि हेतु साधारणतया द्रव्य, गुण, प्रयोजन आदि का बोधक होता है। जबकि करण क्रिया का ही निमित्त होता है और उसमें नियत रूप से क्रिया का साध् ाक व्यापार रहता है। उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जायगी। बाणेन हतः वाली' इस उदाहरण में बाण करण है। इसमें 'हनन' क्रिया का साधक व्यापार विद्यमान है।

दूसरी ओर— दण्डेन घटः (दण्ड से घड़ा)—यहाँ दण्ड में व्यापार तो है किंतु यह घट (द्रव्य) का हेतु है क्रिया का जनक नहीं अतः करण नहीं।

पुण्येन दष्टो हरिः (पुण्य के कारण हरि का दर्शन हुआ)— यहाँ पुण्य हरिदर्शन (क्रिया) का हेतु है किन्तु इसमें व्यापार नहीं अतः यह करण नहीं है। यहाँ हेतु में तृतीया विभक्ति होती है।

'फलमपीह' इति-यहाँ फल या प्रयोजन का भी हेतु शब्द से ग्रहण किया जाता है। इसलिये 'अध्ययनेन वसति' (अध्ययन करने के प्रयोजन में रहता है) यहाँ अध्ययन शब्द से हेतु में तृतीया विभक्ति होती है।

गम्यमाना इति-यदि क्रिया का वाक्य में प्रयोग न हो और वह गम्यमान हो अर्थात् उसका अर्थ निकलता हो तो भी वह कारक विभक्ति में प्रयोजिका होती है। जैसे–अलं श्रमेण –(श्रम से बस करो) इसका अर्थ है–'श्रमेण साध्यं नास्ति।' 'श्रम' यहाँ साधन क्रिया के प्रति करण है। साधन क्रिया वाक्य में प्रयुक्त नहीं अपितु अध्याहार से जानी जाती है अर्थात् गम्यमान है। अतः 'श्रम से ततीया विभक्ति होती है।

टिप्पणी: यह भी कहा जा सकता है कि निषेधार्थक अलम्, कृतम् आदि के योग में ततीया विभक्ति होती है–अलं कृतं वा श्रमेण।

शतेन शतेन वत्सान् पाययति–इसका अर्थ है शतेन परिच्छिद्य, सौ–सौ करके बछड़ों को (दूध) पिलाता है। यहाँ भी परिच्छिद्य क्रिया गम्यमान है। इसके प्रति 'शत' करण है। अतएव 'शतेन' में ततीया विभक्ति होती है।

*** (वा) अशिष्टव्यवहारे दाणः प्रयोगे चतुर्थ्यर्थे ततीया दास्या संयच्छते कामुकः . धर्म्ये तु भार्यायै संयच्छति इति ततीया।**

व्याख्या: अशिष्टव्यवहार इति वा–अशिष्ट व्यवहार में दाण् (देना) धातु के प्रयोग में चतुर्थी के अर्थ में ततीया विभक्ति होती है।

दास्या संयच्छते कामुकः–(कामुक दासी को देता है)—यहाँ 'दास्या' में उपर्युक्त नियम से ततीया विभक्ति हो जाती है। चतुर्थी प्राप्त थी। कामुकता के भाव से दासी को कुछ देना अशिष्ट व्यवहार है। संयच्छते में दाण् धातु को यच्छ् आदेश हुआ है।

भर्यायै संयच्छति–पत्नी के लिए देता है। यहाँ निन्द्य व्यवहार नहीं है। अतएव 'भर्यायै' में चतुर्थी होती है।।

इति ततीया

चतुर्थी विभक्ति।

कर्मणा यमभिप्रैति स संप्रदानम्. 1.4.32

दानस्य कर्मणा यमभिप्रैति स संप्रदानसंज्ञः स्यात्।

व्याख्या: दान के कर्म द्वारा कर्ता जिसे उपकृत करना चाहता है उसकी सम्प्रदान संज्ञा होती है।

सम्प्रदान अन्वर्थ संज्ञा है–'सम्प्रदीयते यस्मै तत् सम्प्रदानम्–जिसे कुछ वस्तु दी जाती है वह सम्प्रदान कहलाता है।

चतुर्थी संप्रदाने.2.3.13

विप्राय गां ददाति। अनभिहित इत्येव। दानीयो विप्रः।। (वा) क्रियया यमभिप्रैति सोपि सम्प्रदानम्। पत्ये शेते।। (वा) यजेः कर्मणः करणसंज्ञा संप्रदानस्य च कर्मसंज्ञा।। पशुना रुद्रं यजते। पशुं रुद्राय ददातीत्यर्थः।।

व्याख्या: चतुर्थी सम्प्रदाने–सम्प्रदान कारक में चतुर्थी विभक्ति होती है।

विप्राय गां ददाति–(ब्राह्मण को गाय देता है)—यहाँ दान क्रिया का फल विप्र के लिए उद्दिष्ट अतः विप्र की सम्प्रदान संज्ञा हो जाती है और 'विप्र' से चतुर्थी विभक्ति होती है।

अनभिहित इति-यहाँ भी 'अनभिहिते' 2.3.1 सूत्र का प्रकरण है अत एव जहाँ सम्प्रदान अनुक्त होगा वहीं चतुर्थी विभक्ति होगी। 'दानीयो विप्रः' (दान योग्य विप्र है) यहाँ 'दा' धातु में सम्प्रदान (दीयतेस्मै) में अनीयर् प्रत्यय होकर 'दानीयः' शब्द बनता है। अत एव सम्प्रदान उक्त गया, अनुक्त नहीं रहा। इसी से यहाँ 'विप्र' में चतुर्थी विभक्ति नहीं होती, अपितु प्रातिपदिकार्थमात्रे प्रथमा होती है।

क्रियया इति (वा)–किसी क्रिया द्वारा कर्ता को जो अभिप्रेत होता है उसकी भी सम्प्रदान संज्ञा होती है।

पत्ये शेते–यहाँ शयन क्रिया का अभिप्रेत पति है। अतः उपर्युक्त नियम से पति की सम्प्रदान संज्ञा होकर चतुर्थी विभक्ति होती है।

यजेः कर्मण इति (वा)—(यदि कर्म और सम्प्रदान एक वाक्य में हों) यज् धतु के कर्म की करण संज्ञा तथा सम्प्रदान की कर्म संज्ञा हो जाती है।

पशुना रुद्रं यजते—इसका अर्थ है—पशुं रुद्राय ददाति। यहाँ 'पशु' कर्म है और 'रुद्र' सम्प्रदान है। उपर्युक्त नियम से कर्म (पशु) की करण संज्ञा होकर उसमें ततीया विभक्ति हो जाती है तथा सम्प्रदान (रुद्र) की कर्म संज्ञा होकर उसमें द्वितीया विभक्ति होती है।

रुच्यर्थानां प्रीयमाणः.1.4.33

रुच्यर्थानां धातूनां प्रयोगे प्रीयमाणोर्थः सम्प्रदानं स्यात्। हरये रोचते भक्तिः। अन्यकर्तकोभिलाषो रुचिः। हरिनिष्ठप्रीतिर्भक्तिः कर्त्री। प्रीयमाणः किम्? देवदत्ताय रोचते मोदकः पथिः।।

व्याख्याः रुचि अर्थ वाली धातुओं के योग में प्रसन्न होने वाला (प्रीयमाण) अर्थात् रुचि रखने वाला सम्प्रदान संज्ञक होता है। 'रुच्' धातु के दो अर्थ है– दीप्ति और अभिप्रीति। यहाँ प्रीयमाण शब्द के साहचर्य से अभिप्रीति, अर्थ लिया जाता है।

हरये रोचते भक्तिः (हरि को भक्ति अच्छी लगती है)—यहाँ प्रसन्न होने वाला 'हरि' है। उपर्युक्त नियम से 'हरि' की सम्प्रदान संज्ञा होकर उसमें चतुर्थी विभक्ति होती है।

अन्यकर्तकइति— अन्य के द्वारा उत्पन्न की हुई अभिलाषा को रुचि कहते हैं। अर्थात् रुच् धातु का कर्त्ता अभिलाषा करने वाले से भिन्न होता है। उपर्युक्त उदाहरण में हरि में रहने वाली रुचि (प्रीति) को उत्पन्न करने वाली 'भक्ति' है। यहाँ रोचते का कर्ता भक्ति है। रुचि के इस विशेष अर्थ के कारण 'हरि भक्तिमभिलषति' आदि में सम्प्रदान संज्ञा नहीं होती।

प्रीयमाणः किमिति—जो प्रीयमाण अर्थात् प्रसन्न होने वाला है उसी की सम्प्रदान संज्ञा होती है, ऐसा क्यों कहा? इसलिये कि यहाँ प्रीयमाण (प्रसन्न होने वाले) की ही सम्प्रदान संज्ञा होती है अन्य की नहीं, अतएव 'देवदत्ताय रोचते मोदक' संज्ञा नहीं होती, क्योंकि वह प्रीयमाण नहीं है।

श्लाघह्नुङ्स्थाशपां ज्ञीप्स्यमानः.1.4.34

एषां प्रयोगे बोधयितुमिष्टः सम्प्रदानं स्यात्। गोपी स्मरात्कृष्णाय श्लाघते ह्नुते तिष्ठते शपते वा। ज्ञीप्स्यमानः किम्? देवदत्ताय श्लाघते पथि।

व्याख्याः श्लाघ् (स्तुति करना) ह्नुङ् (छिपना, दूर करना), स्था (ठहरना), शप् (उलाहना देना) इन धातुओं के प्रयोग में, जिस कर्ता अपने भाव का बोध कराना चाहता है (ज्ञीप्स्यमानः—बोधयितुमिष्टः) उसकी सम्प्रदान संज्ञा होती है।

गोपी स्मरात् कृष्णाय श्लोघते हुते तिष्ठते, शपते वा—(गोपी) कामपीड़ा से आत्मप्रशंसा द्वारा कृष्ण पर विरह—वेदना प्रकट करती है (श्लाघते), (हुते), जाना चाहिये यहकहने पर भी ठहरते हुए अपना भाव कृष्ण पर प्रकट करती है (तिष्ठते), उपालम्भ द्वारा कृष्ण पर अपना भाव प्रकट करती है (शपते)। यहाँ सर्वत्र 'कृष्ण' की उपर्युक्त नियम से सम्प्रदान संज्ञा हो जाती है तथा उससे चतुर्थी विभक्ति होती है।

ज्ञीप्स्यमानः किमिति—सूत्र में 'ज्ञीप्स्यमान' शब्द का क्या प्रयोजन है? यह कि जिस पर कर्ता अपना भाव प्रकट करना नहीं चाहता उसकी सम्प्रदान संज्ञा नहीं होती। जैसे—'देवदत्ताय श्लाघते पथि' यहाँ 'पथ' की सम्प्रदान संज्ञा नहीं होती।

धारेरुत्तमर्णः 1.4.36

धारयतेः प्रयोगे उत्तमर्ण उक्तसंज्ञः स्यात्। भक्ताय धारयति मोक्षं हरिः। उत्तमर्णः किम्? देवदत्राय शत' धारयति ग्रामे।।

व्याख्याः धारि (णिजन्त ध = ऋणी होना) धातु के योग में ऋणदाता (उत्तमर्ण) की सम्प्रदान संज्ञा होती है।

भक्ताय धारयति मोक्षं हरिः (भगवान् भक्त के मोक्ष का ऋणी है)—यहाँ 'हरि' अधर्मण (ऋण लेने वाला) है उस पर

भक्त का भक्ति रूपी ऋण है जिसका निष्क्रय मोक्ष द्वारा संभव है। भक्त उत्तमर्ण है। उपर्युक्त नियम से भक्त की सम्प्रदान संज्ञा होकर चतुर्थी विभक्ति हो जाती है।

उत्तमर्णः किमिति– यह सम्प्रदान संज्ञा उत्तमर्ण (ऋणदाता) की ही होती है अतः 'देवदत्ताय शतं धारयति ग्रामे' यहाँ देवदत्त की सम्प्रदान संज्ञा होती है 'ग्राम की नहीं।

स्पहेरीप्सितः . 1.4.36

स्पहयतेः प्रयोगे इष्टः सम्प्रदानं स्यात्। पुष्पेभ्यः स्पहयति। ईप्सितः किम्? पुष्पेभ्यो वने स्पहयति। ईप्सितमात्रे इयं संज्ञा। प्रकर्षविवक्षायां तु परत्वात् कर्मसंज्ञा। पुष्पाणि स्पहयति।।

व्याख्याः स्पहेरीप्सितः–स्पह (चाहना) धातु के योग में चाहा हुआ (ईप्सित) पदार्थ सम्प्रदान –संज्ञक होता है।

पुष्पेभ्यः स्पहयति–(फूलों की चाह करता है)–यहाँ 'पुष्प' की उपर्युक्त नियम से सम्प्रदान संज्ञा हो जाती है और उसमें चतुर्थी विभक्ति होती है।

ईप्सितः किमिति– ईप्सित शब्द का क्या प्रयोजन है? यह कि–स्पह धातु के योग में भी चाहे हुए पदार्थ से अन्य की सम्प्रदान संज्ञा नहीं होती। 'पुष्पेभ्यो वने स्पहयति' अर्थात् 'वन में फूल चाहता है' में वन की सम्प्रदान संज्ञा नहीं।

ईप्सितमात्र इति–'स्पहेरप्सितः' 1.5.36 सूत्र से केवल चाहे हुए (ईप्सित मात्र) की सम्प्रदान संज्ञा होती है। जहाँ चाह का आधिक्य विवक्षित होता है अर्थात् अत्यधिक चाहा हुआ (ईप्सिततम) कहना होता है वहाँ परे होने से (परत्वात्) कर्तुरिप्सिततमं कर्म 1.4.49 से कर्म संज्ञा ही होती है। 'पुष्पाणि स्पहयति' में पुष्प में ईप्सिततम की विवक्षा है। अतः इसकी कर्म संज्ञा होकर द्वितीया होती है।

क्रुधद्रुहेर्ष्यासूयार्थानां यं प्रति कोपः.1.4.37

क्रुधाद्यर्थानां प्रयोगे यं प्रति कोपः स उक्तसंज्ञः स्यात्। हरये क्रुयुध्यति, द्रुह्यति, ईर्ष्यति, असूयति वा। यं प्रति कोपः किम्? भार्यामीर्ष्यति मैनामन्योद्राक्षीदिति। क्रोधेमर्षः द्रोहोपकारः। ईर्ष्याक्षमा। असूया गुणेषु दोषाविष्करणम्। द्रु हादयोपि कोपप्रभवा एव गह्यन्ते। अतो विशेषणं सामान्येन यं प्रति कोप इति।

व्याख्याः क्रुध (क्रोध करना), दुह (वैर करना), ईर्ष्य (ईर्ष्या करना), असूय (गुणों में दोष देखना)–इन धातुओं तथा इनके समान अर्थ वाली धातुओं के प्रयोग में, जिसके ऊपर क्रोध आदि किया जाता है उसकी सम्प्रदान संज्ञा हो जाती है।

हरये क्रुध्यति, द्रुह्यति, ईर्ष्यति असूयति वा (हरि पर क्रोध करता है, द्रोह करता है ईर्ष्या करता है या उसके दोष निकलाता है) यहाँ हरि की उपर्युक्त नियम से सम्प्रदान संज्ञा हो जाती है तथा उससे चतुर्थी विभक्ति हो जाती है।

यं प्रति कोपः किमिति– जिसके प्रति कोप होता है उसकी ही सम्प्रदान संज्ञा होती है ऐसा क्यों कहा? 'भार्यामीर्ष्यति मैनामन्योद्राक्षीदिति' अर्थात् पत्नी को दूसरा देखे यह सहन नहीं करता। यहाँ भार्या के प्रति कोप नहीं, किन्तु उसका दूसरों के द्वारा देखा जाना असह्य है, अतः भार्या की सम्प्रदान संज्ञा नहीं होती किन्तु कर्म संज्ञा होकर द्वितीया विभक्ति होती है।

यद्यपि क्रोध, द्रोह आदि के अर्थ भिन्न–भिन्न हैं, क्रोध का अर्थ है–अमर्ष, द्रोह का अर्थ है–अपकार करना, ईर्ष्या का अर्थ है–सहन न करना तथा गुणों में दोष निकालना असूया है। तथापि 'यं प्रति कोपः' (जिसके प्रति कोप हो) यह सामान्य रूप से सभी का विशेषण है; क्योंकि कोप से पैदा होने वाले (कोपप्रभवाः) द्रोह आदि ही यहाँ लिये जाते हैं। उन्हीं के योग में सम्प्रदान संज्ञा होती है जैसा कि ''भार्यामीर्ष्यति'' आदि उदाहरण से स्पष्ट है।

क्रुधद्रुहोरुपसष्टयोः कर्म . 1.4.38

सोपसर्गयोरनयोर्योगे यं प्रति कोपस्तत्कारकं कर्मसंज्ञं स्यात्। क्रूरमभिक्रूध्यति। अभिद्रुह्यति।।

---

१. बालमनोरमा

व्याख्याः उपसर्ग पूर्वक (उपसष्ट) क्रुध् तथा द्रुह् धातु के योग में,जिनके प्रति कोप होता है उसकी कर्म संज्ञा होती है। यह नियम पहले नियम का अपवाद है।

क्रूरमभिक्रुध्यति, अभिद्रुह्यति (क्रूर के प्रति क्रोध करता है, द्रोह करता है)— यहाँ पूर्व सूत्र से 'क्रूर की सम्प्रदान संज्ञा प्राप्त थी, उसे बाध कर उपर्युक्त नियम से 'क्रूर' की कर्म संज्ञा होकर द्वितीया विभक्ति हो जाती है।

राधीक्ष्योर्यस्य विप्रश्नः 1.4.39

एतयोः कारकं सम्प्रदानं स्यात्। यदीयो विविधः प्रश्नः क्रियते। कृष्णाय राध्यति ईक्षते वा। पष्टो गर्गः शुभाशुभं पर्यालोचयतीत्यर्थः।।

व्याख्याः (राध् धातु आराधना या साधना अर्थ में है और ईक्ष् देखने अर्थ में, किन्तु यहाँ इनका शुभाशुभ कथन अर्थ है) इन धातुओं के योग में जिसका विविध प्रश्न होता है उसकी सम्प्रदान संज्ञा होती है।

कृष्णाय राध्यति ईक्षते वा—इसका अर्थ है—पूछे जाने पर (गर्ग नाम का ज्योतिषी) कृष्ण के शुभाशुभ का विचार करता है। यहाँ कृष्ण की उपर्युक्त नियम से सम्प्रदान संज्ञा हो जाती है और उससे चतुर्थी विभक्ति होती है।

प्रत्याङ्भ्यां श्रुवः पूर्वस्य कर्त्ता. 1.4.40

आभ्यां परस्य श्रणोतेर्योगे पूर्वस्य प्रवर्तनरूपव्यापारस्य कर्ता सम्प्रदानं स्यात्। विप्राय गां प्रतिश्रणोति आश्रणोति वा। विप्रेण मह्यं देहीति प्रवर्तितः प्रतिजानीत इत्यर्थः।।

व्याख्याः प्रति और आ (आङ्) पूर्वक श्रु (सुनना) धातु के योग में पहले (प्रेरणा रूप) व्यापार के कर्ता अर्थात् प्रेरित करने वाले की सम्प्रदान संज्ञा होती है।

विप्राय मां प्रतिश्रणोति— (आश्रणोति वा)—इसका अर्थ है कि ब्राह्मण ने— ''मुझे गाय दे दो'' ऐसा कह कर किसी को प्रेरणा दी, तब उस व्यक्ति ने ब्राह्मण को गाय देने का वचन दिया (प्रति और आ पूर्वक श्रु धातु का अर्थ है—प्रतिज्ञा करना, वचन देना)। इस प्रकार यहाँ प्रेरणा रूप पूर्व व्यापार के कर्ता 'विप्र' की उपर्युक्त नियम से सम्प्रदान संज्ञा हो गई तथा सम्प्रदान में चतुर्थी विभक्ति है।

अनुप्रतिगणश्च .1.4.42

आभ्यां गणातेः कारकं पूर्वव्यापारस्य कर्तभूतमुक्तसंज्ञं स्यात्। होत्रेनुगणाति प्रतिगणाति। होता प्रथमं शंसति तमध्वर्युः प्रोत्साहयतीत्यर्थः।।

व्याख्याः अनु और प्रति पूर्वक ग (शब्द) के पूर्व व्यापार का कर्ता सम्प्रदान संज्ञक होता है।

होत्रेनुगणाति (प्रतिगणाति वा)—इसका अर्थ है—होता (चार यज्ञकर्ता या ऋत्विजों में से एक) पहले बोलता है उसे अध्वर्यु (अन्य यज्ञकर्ता) प्रोत्साहन देता है। यहाँ 'होत' बोलना (शंसति) रूप पूर्व व्यापार का कर्ता है अतः उपर्युक्त नियम से 'होत' की सम्प्रदान संज्ञा होकर उसमें चतुर्थी विभक्ति हो जाती है—

परिक्रयणे सम्प्रदानमन्यतरस्याम्. 1.4.44

नियतकालं भत्या स्वीकरणं परिक्रयणं तस्मिन् साधकतमं कारकं सम्प्रदानसंज्ञं वा स्यात्। शतेन शताय वा परिक्रीतः।।

व्याख्याः परिक्रयणे इति— परिक्रमण का अर्थ है—नियत काल के लिये किसी को वेतन पर रखना। परिक्रयण में साधकतम कारक अर्थात् करण की विकल्प से सम्प्रदान संज्ञा हो जाती है।

शतेन शताय वा परिक्रीत :—(सौ रुपये 'वेतन' से रक्खा हुआ)—यहाँ 'शत' परिक्रयण का साधन है उसकी उपर्युक्त नियम से विकल्प से सम्प्रदान संज्ञा हो जाती है तथा सम्प्रदान में चतुर्थी विभक्ति होती है। जब सम्प्रदान संज्ञा नहीं होती तब करण में ततीया विभक्ति हो जाती है।

*** (वा) तादर्थ्ये चतुर्थी वाच्या मुक्तये। हरिं भजति।**

व्याख्याः तादर्थ्य का अभिप्राय है–उसके लिये अर्थात् प्रयोजन। जिस (प्रयोजन) के लिये कोई कार्य या वस्तु होती है उसे (प्रयोजन)। वाची शब्दसे चतुर्थी विभक्ति होती है, जैसे–मुक्तये हरिं भजति–(मुक्ति के लिये हरिं को भजता है)–यहाँ हरि के भजन का प्रयोजन मुक्ति है अतः उपर्युक्त नियम से 'मुक्ति' शब्द में चतुर्थी विभक्ति हो जाती है। इसी प्रकार ''कुण्डलाय हिरण्यम्'' (कुण्डल बनाने के लिये सोना है) ''काव्यं यशसे'' (काव्य कीर्ति के लिये है) इत्यादि में कुण्डल तथा यशस् से चतुथ्री विभक्ति हो जाती है।

*** (वा) क्लपि संपद्यमाने च। भक्तिर्ज्ञानाय कल्पते सम्पद्यते जायते, इत्यादि।।**

व्याख्याः (समर्थ होना, पैदा होना) अर्थ वाली धातुओं के प्रयोग में जो होने वाला कार्य है तद्वाची शब्द से चतुर्थी विभक्ति होती है।

भक्तिर्ज्ञानाय कल्पते (सम्पद्यते, जायते इत्यादि)–'भक्ति ज्ञान के लिये समर्थ होती है', यहाँ ज्ञान सम्पद्यमान अर्थात् होने वाली वस्तु है। उपर्युक्त नियम से ज्ञान में चतुर्थी विभक्ति हो जाती है।

*** (वा) उत्पातेन ज्ञापिते च। वाताय कपिला विद्युत।**

व्याख्याः उत्पात का अर्थ है–अशुभसूचक अकस्मात् होने प्राकृतिक विपत्ति। उत्पात से सूचित अर्थ में चतुर्थी विभक्ति होती है।

वाताय कपिला विद्युत् (कपिल वर्ण की बिजली आँधी की सूचक होती है)–यहाँ उपर्युक्त नियम से 'वाताय' में चतुर्थी विभक्ति हो जाती है।

*** (वा) हितयोगे च। ब्राह्मणाय हितम्।।**

व्याख्याः हित के योग में, चतुर्थी विभक्ति होती है। जेसे ''ब्राह्मणाय हितम्'' ब्राह्मण के लिये हितकर। इसी प्रकार 'ब्राह्मणाय सुखम्' आदि।

क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिनः. 2.3.14

क्रियार्था क्रिया उपपदं यस्य तस्य स्थानिनोप्रयुजयमानस्य तुमुनः कर्मणि चतुर्थी स्यात्. फलेभ्यो याति. फलान्याहर्तुं यातीत्यर्थः नस्कुर्मो नसिंहाय नसिंहमनुकूलयितुमित्यर्थः. एवं स्वयंभुवे नमस्कृत्येत्यादावपि।

व्याख्याः क्रियार्थ' इति–क्रियार्थोपपदस्य शब्द का अर्थ है– क्रियार्था क्रिया उपपदं यस्य' किसी क्रिया के लिये होने वाली दूसरी क्रिया प्रयुक्त होती है अर्थात् जिस अर्थ में 'तुमुन्' प्रत्यय लक्षित होता है, क्योंकि क्रियार्था क्रिया के साथ होने पर तुमुन् का विधन किया गया है–तुमुन्ण्वुलौ क्रियायां क्रियार्थायाम् 3.3.10। 'स्थानिनः, का अर्थ है जिसका स्थान हो किन्तु प्रयोग न किया गया हो (अप्रयुज्यमानस्य)। इस प्रकार सूत्र का अर्थ है–क्रिया के लिए क्रिया उपपद में हो लिए तो अप्रयुज्यमान क्रिया के अर्थ में तुमुन् के स्थान पर चतुर्थ का प्रयोग होता है।

फलेभ्यो याति–इसका अर्थ है 'फलानि आहर्तुं याति' (फल लेने के लिये जाता है)–यहाँ क्रियार्था क्रिया है–'याति' (क्योंकि जाना उसका प्रयोग नहीं किया गया। उसका 'कर्म' है–फल। उपर्युक्त नियम से 'फल' शब्द से चतुर्थी विभक्ति हो जाती है।

नमस्कुर्मो नसिंहाय–इसका अर्थ है 'नसिंहम् अनुकूलयितुं नमस्कुर्मः (ऩसिंह को अनुकूल करने के लिये हम नमस्कार करते हैं)। यहाँ तुमुन् प्रत्ययान्त 'अनुकूलयितुम्' का भाव प्रकट होता है। 'अनुकूलयितुम्' का कर्म नसिंह है। इसलिये 'नसिंह' शब्द से उपर्युक्त नियमानुसार चतुर्थी विभक्ति होती है। इसी प्रकार 'स्वयम्भुवे नमस्कृत्य' (स्वयम्भुवं प्रीणयितुं नमस्कृत्य ='ब्रह्मा को प्रसन्न करने के लिये नमस्कार करके) आदि में भी चतुर्थी विभक्ति होती है।

तुमर्थाच्च भाववचनात्.2.3.15

भाववचनाच्च 3.3.11 इति सूत्रेण यो विहितस्तदन्ताच्चतुर्थी स्यात्। यागाय याति। यष्टुं यातीत्यर्थः।।

व्याख्याः तुमर्थाच्चेति–भाववचनाश्च 3.3.11 इस सूत्र में कहा गया है कि भाववाची घा् आदि प्रत्यय तुमुन् के अर्थ में भी होते हैं। उन घा् प्रत्ययान्त आदि शब्दों में चतुर्थी विभक्ति होती है।

यागाय याति–इसका अर्थ है–'यष्टुं याति' अर्थात् यज्ञ करने के लिये जाता हे। यहाँ 'याग' तुमुन् के अर्थ में भाववाची घा् प्रत्ययान्त (या्+घा्) शब्द है। उपर्युक्त नियम के अनुसार 'याग' से चतुर्थी विभक्ति हो जाती है।

नमः स्वस्तिस्वाहास्वधालंवषड्योगाच्च . 2.3.16

एभिर्योगे चतुर्थी स्यात्। हरये नमः। (प) उपपद्विभक्तेः कारकविभक्तिर्बलीयसी।। नमस्करोति देवान्। प्रजाभ्यः स्वस्ति। अग्नये स्वाहा। पितभ्यः स्वधा। अलमिति पर्याप्त्यर्थग्रहणम्। तेन दैत्येभ्यो हरिरलं प्रभुः समर्थः शक्त इत्यादि। प्रभ्वादियोगे षष्ठ्यपि साधुः। तस्मै प्रभवति 5.1.101 स एषां ग्रामणीः 5.2.78 इति निर्देशात। तेन प्रभुर्बुभूषर्भुवनत्रयस्येति सिद्धम्। वषडिन्द्राय। चकारः पुनर्विधानार्थः। तेनाशीर्विवक्षायां परामपि 'चतुर्थी चाशिषी' ति 2.3.73 षष्ठीं बाधित्वा चतुर्थ्येव भवति।। स्वस्ति गोभ्यो भूयात्।

व्याख्याः नमः स्वस्ति इति–नमः स्वस्ति, स्वाहा, स्वधा, अलं तथा वषट् शब्दों के योग में चतुर्थी विभक्ति होती है। जैसे–'हरये नमः' (हरि के लिये नमस्कार) यहाँ 'नमः' शब्द के योग में 'हरये' में चतुर्थी विभक्ति है।

उपपदविभक्तेरिति–उपपद विभिक्त से कारक विभक्ति बलवती होती है अर्थात् उपपद विभक्ति को बाधकर कारक विभक्ति हो जाती है। दो निमित्तों से विभक्ति का विधान किया गया है एक तो क्रिया के संबंध से, जिसे कारक विभक्ति कहते हैं। वह कर्म आदि संज्ञा करके द्वितीया विभक्ति आदि के रूप में कही गई है। दूसरी है–उपपद विभक्ति, उपपद–समपी में स्थित पद। क्रिया से भिन्न अन्य शब्द (पद) के निमित्त से होने वाली विभक्ति उपपद विभक्ति कहलाती है। उपपद के संबंध से होने वाली विभक्ति, उपपद विभक्ति कहलाती है। उपपद के संबंध से होने वाली विभक्ति की अपेक्षा क्रिया के संबंध से हाने वाली विभक्ति बलवती होती है, जैसे–'नमस्करोति देवान्' (देवों को नमस्कार करता है) यहाँ 'नमः' के योग में 'देव' शब्द से चतुर्थी विभक्ति प्राप्त होती है यह उपपद विभक्ति है। किन्तु 'नमस्कारोति' यह क्रियापद हो जाने पर इसके संबंध में 'देव' कर्म हो जाता है और द्वितीया विभक्ति प्राप्त होती है। यहाँ द्वितीया कारक विभक्ति है। अतएव चतुर्थी (उपपद विभक्ति) को बाध कर द्वितीया विभक्ति होती है–(देवान्)।

प्रजाभ्यः स्वस्ति (प्रजाओं का कल्याण हो)–'नमः स्वस्ति' आदि नियम से 'स्वस्ति' के योग में 'प्रजा' शब्द से चतुर्थी विभक्ति होती है। इसी प्रकार–

अग्नये स्वाहा (अग्नि के लिये स्वाहा)। पितभ्यः स्वधा (तिपरों के लिये अन्नादि) में भी चतुर्थी विभक्ति होती है।

अलमिति–सूत्र में 'अलम्' शब्द से पर्याप्त (समर्थ) अर्थ वाले शब्द का ग्रहण किया जाता है। इसके दो फल होते है–1. निषेध अर्थ में जो 'अलम्' शब्द है, उसके योग में चतुर्थी नहीं होती, जैसे–'अलं विवादेन' 2. पर्याप्त (समर्थ) अर्थ वाले 'प्रभु' आदि शब्दों के योग में भी चतुर्थी विभक्ति हो जाती है। जैसे–दैत्येभ्यो हरिःप्रभुःसमर्थः, शक्तः।

दैत्येभ्यो हरिरलम्– यहाँ पर्याप्त अर्थ वाले 'अलम्' शब्द के योग में 'दैत्येभ्यः' में चतुर्थी होती है।

प्रभ्वादियोगत इति–प्रभु आदि शब्दों के योग में षष्ठी विभक्ति भी शुद्ध है। यद्यपि किसी सूत्र या वार्त्तिक से षष्ठी का विधान नहीं गया तथापि आचार्य पाणिनि के 'तस्मै प्रभवति' 5.1.101 प्रयोग से विदित होता है कि प्रभु आदि के योग में चतुर्थी विभक्ति होती है। इसी प्रकार उनके 'स एषां ग्रामणीः' 5.2.78 प्रयोग से ज्ञात होता है कि प्रभु आदि के योग में षष्ठी भी होती है। अत एव–प्रभुर्बु भूषुर्भूवनत्रयस्य' (1, 49) माघ कवि की इस उक्ति में 'भुवनत्रयस्य' में षष्ठी का प्रयोग भी व्याकरण–सम्मत ही है।

वषट्+ इन्द्राय (इन्द्र के लिए हविःदान)–यहाँ 'नमः स्वस्ति' आदि नियम से 'वषट्' के योग में इन्द्र' शब्द से चतुर्थी। विभक्ति होती है।

चकार इति–सूत्र में च (योगात्+च) फिर से चतुर्थी कहने के लिये है।–

स्वस्ति गोभ्यो भूयात्–(गायों का कल्याण हो)–यहाँ नमः स्वस्ति0 2.3.16 आदि नियम से चतुर्थी प्राप्त होती है। चतुर्थी चाशिषि. 1.3.83 इस नियम से चतुर्थी और षष्ठी दोनों विकल्प से प्राप्त होती है। अष्टाध्यायी में चतुर्थी चाशिषि0 'नमः स्वस्ति0' से परे (आगे) है और दो तुल्य नियमों के विरोध में परे वाला कार्य ही हुआ करता है।(विप्रतिषेधे परं कार्यम्) अतः चतुर्थी और षष्ठी विकल्प से होनी चाहिये। किन्तु ऐसा नहीं होता 'स्वस्ति गोभ्यो भूयात्' प्रयोग में नित्य चतुर्थी विभक्ति ही होती है। इसका कारण यह है कि 'नमः स्वस्ति0' सूत्र में 'च' शब्द का

ग्रहण किया गया है। यह बलपूर्वक पुनः चतुर्थी का विधान करता है इसलिये आशीर्वाद की विवक्षा में 'चतुर्थी चाशिषि0' इस षष्ठी को बाधकर 'नमः स्वस्ति' से होने वाली चतुर्थी विभक्ति ही होती है।

मन्यकर्मण्यनादरे विभाषाप्राणिषु . 2.3.17

प्राणिवर्जं मन्यतेः कर्मणि चतुर्थी वा स्यात्तिरस्कारे। न त्वां तणं मन्ये तणाय वा। श्यना निर्देशात्तानादिकयोगे न। त्वां तणं मन्वेहम्। अप्राणिष्वित्यपनीय।।

व्याख्याः मन्यकर्मणि इति–अनादर प्रकट करने में मन् (मानना द्विवादि) धातु के कर्म में, यदि वह प्राणी न हो तो, विकल्प से चतुर्थी विभक्ति होती है, पक्ष में द्वितीया ही होती है। जैसे–न त्वां तणं मन्ये तणाय वा। मैं तुम्हें तिनका भी नहीं समझता। यहां अनादर का भाव है।

(वा) नौकाकान्नशुकश्रगालवर्ज्येष्विति वाच्यम्

तेन न त्वां नावमन्नं वा मन्ये, इत्यत्राप्राणित्वेपि चतुर्थी न। न त्वां शुने मन्ये इत्यत्र प्राणित्वेपि भवत्येव।।

व्याख्याः न त्वां तणं मन्ये तणाय वा (मैं तुम्हें तिनके के तुल्य भी नहीं समझता–यहाँ उपर्युक्त नियम से 'तण' से विकल्प से चतुर्थी विभक्ति होती है। पक्ष में कर्म में द्वितीया ही होती है।

श्यनेति–श्यन् से निर्देश करने के कारण यहाँ दिवादि गण की मन् (मन्यते) धातु ली जाती है, अतः तनादि गण को 'मन्' धातु के योग में यह चतुर्थी नहीं होती, 'न त्वां तणं मन्वेहम्'।

अप्राणिषु. इति वा–वार्तिककार का कथन है कि सूत्र में से 'अप्राणिषु' शब्द को हटाकर उसके स्थान में–नौ (नाव), काक (कौआ), अन्न, शुक (तोता) श्रगाल (सियार) को छोड़कर ऐसा कहना चहिये। इसका फल होता है कि–

1. न त्वां नावं मन्ये (तुझे नाव नहीं समझता)–यहाँ अप्राणी (नाव) होने के कारण सूत्र के अनुसार 'नौ' से चतुर्थी प्राप्त होती है किन्तु इष्ट नहीं है। वार्तिक में 'नौ' को वर्जित करने से चतुर्थी नहीं होती।

2. न त्वां शुने मन्ये (तुझे कुत्ता भी नहीं समझता)–यहाँ श्वन् (कुत्ता) प्राणी है अतएव सूत्र के अनुसार चतुर्थी प्राप्त नहीं (अप्राणिषु; किन्तु चतुर्थी इष्ट है। वार्तिक में 'श्वन्') को वर्जित नहीं किया गया अतः वार्तिक के अनुसार 'शुने' में प्राणी होते हुए भी चतुर्थी विभक्ति हो जाती है।

गत्यर्थकर्मणि द्वितीयाचतुर्थ्यौ चेष्टायामनध्वनि 2.3.12

अध्वभिन्ने गत्यर्थानां कर्मणि एते स्तश्चेष्टायाम्। ग्रामं ग्रामाय वा गच्छति। चेष्टायां किम्? मनसा हरिं व्रजति। अनध्वनीति किम्? पन्थानं गच्छति।

गन्त्राधिष्ठितेध्वन्येवायं निषेधः। यदा तूत्पथात्पन्था एवाक्रमितुमिष्यते तदा चतुर्थी भवत्येव। उत्पथेन पथे गच्छति।। इति चतुर्थी।।

व्याख्याः 'गात्यर्थकर्मणि इति'– यदि वह (कर्म) मार्ग न हो और शरीर की गति (चेष्टा) कही गई हो, तो गति अर्थ वाली धातुओं के कर्म में द्वितीया और चतुर्थी विभक्ति होती है।

ग्रामं ग्रामय वा गच्छति (गाँव को जाता है)–यहाँ 'ग्राम' मार्ग नहीं है और गाँव जाने में शरीर की चेष्टा करनी पड़ती है अतः उपर्युक्त नियम से 'ग्राम' या 'ग्रामाय' में विकल्प से द्वितीया अथवा चतुर्थी विभक्ति होती हे।

चेष्टायां किमिति–'चेष्टा' में यह क्यों कहा? इसलिये कि जहाँ शारीरिक व्यापार नहीं करना पड़ना वहाँ केवल द्वितीया विभक्ति ही होती है, जैसे–'मनसा हरिं व्रजति' (मन से हरि के पास जाता है)। इसी प्रकार नरपतिहितकर्त्ता द्वेष्यतां याति लोके' इत्यादि।

अनध्वनीति–यदि गति अर्थ वाली धातु का कर्म अध्वन् (मार्ग) होता है तो कर्म में केवल द्वितीया ही होती है, चतुर्थी 'पन्थानं गच्छति' (मार्ग को जाता है)।

गन्त्राधिष्ठित इति–यदि आने वाले (गन्त) के द्वारा मार्ग अधिष्ठित (प्राप्त) होता है अर्थात् वह इष्ट मार्ग पर स्थित होता है तभी यह चतुर्थी विभक्ति नहीं होती; किन्तु जब उत्पथ (अनिष्ट मार्ग) से जाने में असमर्थ होकर वह उसे

छोड़कर इष्ट मार्ग की ओर जाता है तब मार्गवाची में भी चतुर्थी विभक्ति होती ही है। जैसे– 'उत्पथेन पथे गच्छति' (उत्पथ से पथ को जाता है) भाव यह है कि –यदि कोई गन्तव्य स्थान का मार्ग भूलकर; भ्रम से मार्ग छोड़कर अन्य मार्ग पर हो लिया, वही अन्य मार्ग उत्पथ कहलायेगा। उस मार्ग से जब अपने इष्ट के मार्ग को प्राप्त करने के लिये चलेगा तो 'उत्पथेन पथे गच्छति' यह प्रयोग होगा। यहाँ 'पथे' में चतुर्थी विभक्ति होती है।। इति चतुर्थी।।

ध्रुवमपायेपादानम् 1.4.24

अपायो विश्लेषस्तस्मिन्साध्ये ध्रुवमवधिभूतं कारकमपादानं स्यात्।।

व्याख्या: पंचमी विभक्ति। ध्रुवम पायेपादाम्–अपाय का अर्थ है विश्लेषज्ञ, अलग होना। किसी वस्तु या व्यक्ति के अलग होने में जो कारक ध्रुव अर्थात् अवधि (सीमा रूप है वह अपादान कहलाता है)।

अपादाने पंचमी 2.3.28

ग्रामादायाति। धावतोश्वात्पतति। कारकं किम्? वक्षस्य पर्णं पतति।

व्याख्या: अपादान कारक में पंचमी विभक्ति होती है।

ग्रामाद् आयाति–(ग्राम से आता है)–कहाँ से आता है? ग्राम से। यहाँ ग्राम् अवधिरूप है अतः इसकी अपदान संज्ञा होकर इससे पंचमी विभक्ति हो जाती है।

धावतोश्वात्पतति {दौड़ते हुए घोड़े से गिरता है}–यहाँ यद्यपि घोड़ा स्थिर नहीं, दौड़ता है तथापि वह पतन क्रिया के प्रति अवधि है ही अतएव 'अश्व' की अपादान संज्ञा होकर पंचमी विभक्ति होती है।

कारकं किमिति–कारक अपादानसंज्ञक होता है ऐसा क्यों कहा गया? इसलिये कि जो कारक नहीं होता, अर्थात् जिसका क्रिया से संबंध नहीं होता, उसकी अपादान संज्ञा नहीं होती, जैसे 'वक्षस्य पर्ण 'पतति' में 'वक्ष' का पतन क्रिया से संबंध विवक्षित नहीं, अपितु 'पर्ण' से संबंध है। अतएव यहाँ वक्ष की अपादान संज्ञा नहीं होती।

टिप्पणी: 'धावतोश्वात् पतति' आदि प्रयोगों में अश्व आदि की अपादान संज्ञा होनी चाहिये इसलिये सूत्र के 'ध्रुव' शब्द का अर्थ 'स्थिर' नहीं अपितु 'अविधभूत' माना जाता है।

*** (वा) जुगुप्सविरामप्रमादार्थानामुपसंख्यानम्। पापाज्जुगुप्सते। विरमति। धर्मात्प्रमाद्यति।।**

व्याख्या: जुगुप्सेति (वा) –जुगुप्सा (घणा) विराम (हटना, अलग होना) प्रमाद (असावधानी करना) अर्थ वाली धातुओं के योग में जुगुप्सा आदि के विषय की अपादान संज्ञा होती है।

पापात् जुगुप्सते (पाप से घणा करता है)–यहाँ पाप जुगुप्सा का विषय है अतः उपर्युक्त नियम से इसकी अपादान संज्ञा हो जाती है और अपादान में पंचमी विभक्ति होती है। इसी प्रकार पापात् विरमति (पाप से बचता है) धर्मात् प्रमाद्यति (धर्म से प्रमाद करता है) आदि।

टिप्पणी: प्रमादार्थक के साथ सप्तमी भी आती है। जैसे–'न प्रमाद्यन्ति प्रमदासु विपश्चितः'

भीत्रार्थानां भयहेतुः. 1.4.25

भयार्थानां त्राणर्थानां च प्रयोगे भयहेतुरपादनं स्यात्। चौराद् बिभेति। चौरात् त्रायते। भर्यहेतुः किम्? अरण्ये बिभेति त्रायते इति वा।।

व्याख्या: भीत्रार्थानां भयहेतुः–'भय' अर्थ वाली तथा 'रक्षा' (त्राण) अर्थ वाली धातुओं के प्रयोग में भय का हेतु अपादान कहलाता है।

चौराद् बिभेति (चोर से डरता है)–यहाँ चोर भय का हेतु है। उसकी उपर्युक्त नियम से अपादान संज्ञा होकर अपादान में पंचमी विभक्ति हो जाती हे। इसी प्रकार 'चौरात् त्रायते' (चोर से रक्षा करता है)।

भयहेतुः किमिति–भय के कारण की ही अपादान संज्ञा होती है, यह क्यों कहा इसलिये कि 'अरण्ये बिभेति' में

अरण्य (वन) की अपादान संज्ञा नहीं होती, क्योंकि अरण्य भय का हेतु नहीं। यदि अरण्य को भय का हेतु माना जाये तो अरण्य से भी पंचमी विभक्ति हो ही सकती है।

पराजेरसोढः. 1.4.26

पराजेः प्रयोगेसह्योर्थोपादानं स्यात्। अध्ययनात्पराजयते। गलायतीत्यर्थः। असोढ़ः किम्? शत्रून्पराजयते। अभिभवतीत्यर्थः।।

व्याख्याः पराजेरसोढ़ः—परा (उपसर्ग) पूर्वक जि धातु के योग में असह्य वस्तु की अपादान संज्ञा होती है।

अध्ययनात् पराजयते (अध्ययन से हार मान रहा है)—जब किसी के लिये अध्ययन असह्य या कष्टकर हो गया है तो उपर्युक्त नियम से पराजयते के योग में अध्ययन की अपादान संज्ञा होती है और उसमें पंचमी विभक्ति हो जाती है। इसका भाव है—अध्ययन से थक गया है।

असोढ़ः किमिति—असह्य वस्तु की ही अपादान संज्ञा होती है, ऐसा क्यों कहा? इसलिये कि 'शत्रून् पराजयते'—शत्रुओं को हराता है (अभिभवति = पराजित करता है) यहाँ शत्रु की अपादान संज्ञा नहीं होती, क्योंकि वह असह्य नहीं। 'शनून्' में कर्म में द्वितीया हुई है।

वारणार्थानामीप्सितः. 1.4.27

प्रवत्तिविघातो वारणम्। वारणार्थानां धातूनां प्रयोगे ईप्सितोपादानं स्यात्। वेभ्यो गां वारयति। ईप्सितः किम्? यवेभ्यो गां वारयति क्षेत्रे।।

व्याख्याः वारणार्थनामीप्तिः— वारण का अर्थ है —प्रवत्ति का विघात, किसी कार्य में लगे हुए को रोकना। वारण अर्थ वाली धातुओं के प्रयोग में ईप्सित वस्तु (जिससे हटाने की चाह होती है) अपादान संज्ञक होती है।

वेभ्यो गां वारयति (यवों से गाय को हटाता है)—'यव' से गाय को हटाना चाहता है अतः उपर्युक्त नियम से 'यव' की अपादान संज्ञा होती है और अपादान में पंचमी विभक्ति होती है।

ईप्सितः किम्—जिससे किसी को दूर करना अभीष्ट होता है। वही अपादान होता है ऐसा क्यों कहा? इसलिये कि 'यवेभ्यो गां वारयति क्षेत्रे' में 'क्षेत्र' अभीष्ट नहीं बल्कि यव हैं। अतः क्षेत्र की अपादान संज्ञा नहीं होती।

अन्तर्धौ येनादर्शनमिच्छति.128

व्यवधाने सति यत्कर्तकस्यात्मनो दर्शनस्याभावमिच्छति तदपादानं स्यात्। मातुर्निलीयते कृष्णः। अन्तर्धौ किम्? चौरान्न दिदक्षते। इच्छतिग्रहणं किम् अदर्शनेच्छायां सत्यां सत्यपि दर्शने यथा स्यात्।।

व्याख्याः अन्तर्धि का अर्थ है, व्यवधान (ओट)। व्यवधान होने पर जिससे अपना अदर्शन चाहता है अर्थात् जिससे अपने आपको छिपाना चाहता है, उसकी अपादान संज्ञा होती है।

मातुर्निलीयते कृष्णः— (कृष्ण माता से छिपता है)—कृष्ण दीवार आदि का व्यवधान करके माता से छिपना चाहता है अतः उपर्युक्त नियम से 'मात' की अपादान संज्ञा हो जाती है और अपादान में पंचमी विभक्ति होती है।

अन्तर्धौ किमिति—अन्तर्धि शब्द रखने का क्या प्रयोजन है? यह कि जहाँ व्यवधान होने पर कोई अपने आप को छिपाना चाहता है वहीं यह अपादान संज्ञा होती है अतएव ''चौराद् न दिदक्षते'' (चोर मुझे न देख ले इस विचार से चोरों को देखना नहीं चाहता) यहाँ 'चोर' की अपादान संज्ञा नहीं होती; क्योंकि यहाँ व्यवधान निमित्तक छिपने का भाव नहीं है।

इच्छतिग्रहणं किमिति— —सूत्र में 'इच्छति' (चाहता है) का ग्रहण क्यों किया? इसलिये कि यदि किसी के छिपने की इच्छा है तो उसे देख लिया जानेपर भी अपादान संज्ञा हो ही जाती है। जैसे 'देवदत्तात् यज्ञदत्तो निलीयते।' —देवदत्त से यज्ञदत्त छिपता है।

आख्यातोपयोगे 1.4.29

नियमपूर्वकविद्यास्वीकारे वक्ता प्राक्संज्ञः स्यात्। उपाध्यादधीते। उपयोगे किम्। नटस्य गाथां श्णति।

व्याख्याः आख्यातोपयोगे–यहाँ उपयोग शब्द का (रूढ़) अर्थ है–नियमपूर्वक विद्याग्रहण करना। नियमपूर्वक विद्या ग्रहण करने में अध्यापक या शिक्षक (आख्याता वक्ता) की अपादान संज्ञा होती है।

उपाध्याायाद् अधीते (उपाध्याय से पढ़ता है)–उपर्युक्त नियम से उपाध्याय की अपादान संज्ञा होकर उसमें पंचमी विभक्ति हो जाती है।

उपयोगे किमिति– जहाँ नियमपूर्वक शिक्षा–ग्रहण की जाती है वहीं वक्ता की अपादान संज्ञा होती है, यह क्यों ? इसलिये कि'नटस्य गाथां श्रणोति' नट की गाथा सुनता है। यहाँ 'नटस्य' में पंचमी विभक्ति नहीं होती, क्योंकि यहाँ नियमपूर्वक शिक्षा–प्राप्ति नहीं हैं।

जनिकर्तुः प्रकृतिः. 1.4.30

जायमानस्य हेतुरपादानं स्यात्। ब्रह्मणः प्रजाः प्रजायन्ते।।

व्याख्याः जनिकर्तुः प्रकृतिः–जनि का अर्थ है–जन्म उत्पत्ति–यहाँ प्रजायन्ते का कर्ता {उत्पन्न होने वाला} प्रजा है। इसका हेतु 'ब्रह्म' है; अतः उपर्युक्त नियम से ब्रह्म की अपादान संज्ञा होकर उससे पंचमी विभक्ति हो जाती है।

भुवः प्रभवः 1.4.32

भवनं भूः। भूकर्तुः प्रभवस्तथा। हिमवतो गङ्गा प्रभवति। तत्र प्रकाशत इत्यर्थः।

व्याख्याः भुवः प्रभवः–'भू' शब्द का अर्थ है होना (भू का षष्ठी, एक0 भुवः) 'प्रभव' का अर्थ है–स्थान। यहाँ पूर्व सूत्र से 'कर्तुः' पद की अनुवत्ति होती है। भू के कर्ता के उत्पत्ति –स्थान की अपादान संज्ञा होती है।

हिमवतो गङ्गा प्रभवति–इसका अर्थ है–हिमालय से गङ्गा निकलती है अथवा वहाँ प्रथम दिखलाई देती है। यहाँ उपर्युक्त नियम से 'हिमवत्' की अपादान संज्ञा हो जाती है और अपादान में पंचमी विभक्ति होती है।

*** (वा) ल्यब्लोपे कर्मण्यधिकरणे च प्रासादात् प्रेक्षते। आसनात्प्रेक्षते। प्रासादमारुह्य, आसने उपविश्य प्रेक्षत इत्यर्थः। श्वशुराज्जिहेति श्वशुरं वीक्ष्येत्यर्थः। गम्यमानापि क्रिया कारक-विभक्तीनां निमित्तम्। कस्मात्त्वं नद्याः।।**

व्याख्याः ल्यब्लोप इति (वा)–ल्यप् प्रत्यया के लोप होने पर उसके कर्म तथा आधार में पंचमी विभक्ति होती है।

प्रासादात् प्रेक्षते–इसका अर्थ है–'प्रासादमारुह्य प्रेक्षते' (महल पर चढ़कर देखता है)। यहाँ 'आरुह्य' ल्यप् प्रत्ययान्त है परन्तु उसका प्रयोग नहीं, उसका कर्म है–'प्रासाद'। उपर्युक्त नियम से 'प्रासाद' में पंचमी विभक्ति होती है। इसी प्रकार–

आसनात् प्रेक्षते अर्थात् 'आसनं उपविश्य प्रेक्षते' (आसन पर बैठकर देखता है) यहाँ आसन 'उपविश्य' का आधार है। इसमें पंचमी विभक्ति होती है।

श्वशुराज्जिहेति–(श्वशुर से लज्जा करती है) अर्थात् श्वशुर को देखकर लज्जित होती है यहाँ 'श्वशुर' लयप् प्रत्ययान्त (वीक्ष्य) का कर्म है।

गम्यमाना इति–जिस क्रिया का वाक्य में प्रयोग नहीं होता अति तु प्रकरण आदि से जान ली जाती है, उसे 'गम्यमाना क्रिया' कहा गया है। ऐसी क्रिया भी कारक–विभक्ति का निमित्त होती है। जैसे–'कस्मात् = त्वम्?' (तुम कहाँ से आये?) 'नद्याः' (नदी से) यहाँ प्रकरण आदि से आना (आगमन) क्रिया का बोध होता है। उसके निमित्त से 'कस्मात्' और 'नद्याः' में पंचमी विभक्ति होती है।

*** (वा) यतश्चाध्वकालनिर्माणं तत्र पंचमी *तद्युक्तादध्वनः प्रथमासप्तम्यौ कालात्सप्तमी च वक्तव्वा वनाद् ग्रामो योजनं योजने वा। कार्तिक्या आग्रहायणी मासे।**

व्याख्याः यतश्चेति (वा)–जिससे (आरम्भ करके) मार्ग या समय की गणना (माप) की जाती है उस स्थान या समय–वाची से पंचमी विभक्ति होती है। यहाँ निर्माण का अर्थ है–निमान, माप।

तद्युक्तादिति (वा)–उस पंचम्यन्त से अन्वित दूरी या मार्गवाची शब्द में प्रथमा अथवा सप्तमी विभक्ति होती है।

कालादिति (वा)– पंचम्यन्त से अन्वित कालावाची शब्द में सप्तमी विभक्ति होती है।

वनाद् ग्रामो योजनं योजने वा (वन से ग्राम एक योजन है)–यहाँ वन' से ग्राम की दूरी दिखाई गई है। 'यतश्च0' इत्यादि नियम के अनुसार 'योजन' में प्रथमा या सप्तमी विभक्ति है।

कार्तिक्या आग्रहायणी मासे–(कार्तिक की पूर्णिमा से अगहन की पूर्णिमा एक महीने में होती है)–यहाँ 'कार्त्तिकी' से 'आग्रहायणी' का अन्तर दिखाया गया है अतः कार्त्तिकी में पंचमी विभक्ति है और मास भर का अन्तर दिखलाया है अतः 'मास' से सप्तमी विभक्ति होती है।

अन्यारादितर्ते दिक्शब्दाचूत्तरपदाजाहियुक्ते 2.3.29

एतैर्योगे पंचमी स्यात्। अन्य इत्यर्थग्रहणम्। इतरग्रहणं प्रपचार्थम्। अन्यो भिन्न इतरो वा कृष्णात्। आराद्वनात्। ऋते कृष्णात्। पूर्वो ग्रामात्। दिशि दष्टः शब्दो दिक्शब्दः। तेन सम्प्रति देशकालवत्तिना योगेपि भवति। चैत्रात्पूर्वः फाल्गुनः। अवयववाचियोगे तु न। तस्य परमाम्रेडितम्। 8.1.2 इति निर्देशात्। पूर्वं कायस्य। अचूत्तरपदस्य तु दिक्शब्दत्वेपि षष्ठ्यतसर्थ 2.3.30 इति षष्ठी बाधितुं पथग्ग्रहणम्। प्राक् प्रत्यग्वा ग्रामात्। आच् दक्षिणा ग्रामत्। आहि दक्षिणाहि ग्रामात्।। अपादाने पचमी 2.3.28 इति सूत्रे कार्तिक्या प्रभतीति भाष्यप्रयोगात् प्रभत्यर्थयोगे पचमी। भवात्प्रभति आरभ्य वा सेव्यो हरिः। 'अपपरिबहिः- 2.1.12, इति समासविधानाज्ज्ञापकाद् बहिर्योगे पचमी। ग्रामाद् बहिः।।

व्याख्याः अन्यारात् इति–अन्य आरात् (दूर या समीप) इतर (अन्य), ऋते (विना), दिशावाची शब्द, 'अचु, धातु से बना हुआ है उत्तरपद जिनमें ऐसे प्राक् प्रत्यक् आदि शब्द; आच् (तद्धित) प्रत्ययान्त 'दक्षिणा' आदि शब्द तथा 'आहि' (तद्धित) प्रत्ययान्त 'दक्षिणाहि' आदि शब्द इनके योग में पचमी विभक्ति होती है।

अन्येति–सूत्र में 'अन्य' शब्द से 'भिन्न' अर्थ वाले सभी शब्दों (भिन्न, पर, इतर आदि) का ग्रहण होता है। 'इतर' शब्द भी अन्यार्थक है, इसका पथक् ग्रहण दिग्दर्शन मात्र के लिये किया गया है। (अथवा अनावश्यक है)।

अन्यो भिन्न इतरो वा कृष्णात् (कृष्ण से भिन्न)–यहाँ उपर्युक्त नियम के अनुसार 'कृष्ण' शब्द से पंचमी विभक्ति होती है। इसी प्रकार 'आराद् वानात्' (वन के समीप अथवा वन से दूर)। ऋते 'कृष्णात्' (कृष्ण के विना) 'पूर्वो ग्रामात् (ग्राम से पूर्व)।

1. दिशि दष्ट इति– सूत्र में दिक् शब्द का अर्थ है दिशा में देखा गया शब्द, इसलिये जो शब्द दिशा के लिये प्रयुक्त होता है किन्तु इस समय देश या काल में उसका प्रयोग किया गया है उसके साथ भी पंचमी विभक्ति हो जाती है। जैसे–

चैत्रात् पूर्वः फाल्गुनः– में पूर्व शब्द का अर्थ है–पहले, अतः यह काल का वाचक है। पर यह दिशा में देखा गया शब्द है इसलिये इसके साथ भी 'चैत्रात्' में पंचमी विभक्ति होती है।

2. अवयवेति–अवयववाची पूर्व, पर आदि शब्दों के योग में पंचमी नहीं होती। आचार्य पाणिनि का तस्य परमाम्रेडितम् 8।1।2। प्रयोग ही इसमें प्रमाण है। यहाँ 'तस्य परम्' में 'पर' के योग में पंचमी नहीं। फलतः 'पूर्वं कायस्य' (शरीर का पूर्व भाग) में पंचमी विभक्ति नहीं होती अपि तु संबंध में षष्ठी विभक्ति होती है।

3. अचूत्तरपदस्येति–यद्यपि अचूत्तरपद 'प्राक्' 'प्रत्यक्' आदि शब्द दिक् शब्द ही है, अतः दिक् शब्द से अचूत्तरपद का भी ग्रहण हो जाता है तथापि सूत्र में उनका पथक् ग्रहण षष्ठ्यतसर्थप्रत्ययेन 2।3।30 सूत्र से प्राप्त होने वाली षष्ठी का बाध करने के लिये किया गया है। इसका फल यह होता है कि प्राक्, प्रत्यक् आदि के योग में पंचमी विभक्ति ही होती है षष्ठी नहीं, जैसे–प्राक् प्रत्यग् वा ग्रामात्।

प्राक्, प्रत्यक् आदि शब्दों से स्वार्थ में अस्ताति प्रत्यय (5.3.27) होता है और उसका लुक् (अचेर्लुक् 5.3.30) हो जाता है। 'असताति' प्रत्यय अतसर्थक है।

दक्षिणा ग्रामात् (ग्राम से दक्षिण दिशा में)–यह आच् प्रत्यय का उदाहरण है। दक्षिण शब्द से आच् प्रत्यय होकर दक्षिण आ –दक्षिणा अव्यय शब्द है। इसके योग में ग्रामात् में पंचमी विभक्ति होती है।

दक्षिणाहि ग्रामात् (ग्राम से दूर दक्षिण दिशा में)–यह 'आहि' प्रत्यय का उदाहरण है। दक्षिण शब्द से 'आहि' (आहि च दूरे) प्रत्यय होकर 'दक्षिणाहि' शब्द बनता है। इसके योग में ग्रामात् में पंचमी विभक्ति होती है।

अपादान इति–अपादाने पंचमी विभक्ति होती है।

अपादान इति–अपादाने पंचमी 2.3.28 इस सूत्र पर 'कार्तिक्याः प्रभति' इस भाष्य के प्रयोग से सूचित होता है कि प्रभति अर्थ वाले शब्दों के योग में पंचमी विभक्ति होती है।

भवात् प्रभति आरभ्य वा सेव्यो हरिः {जन्म से लेकर (आमरण) हरि की भक्ति करनी चाहिये}–यहाँ प्रभति के योग में पंचमी विभक्ति होती है। यद्यपि किसी नियम से यह कही नहीं गई किन्तु 'अपादाने पंचमी 2।3।28' इस सूत्र के भाष्य में 'कार्तिक्याः प्रभति' यह प्रयोग किया गया है, इससे यह बात सूचित होती है कि प्रभत्यर्थक शब्दों के योग में पंचमी होती है।

अपपरीति–अपपरिति 2.1.12 इस सूत्र के द्वारा 'बहिः' का पंचम्यन्त के साथ समास विधान किया गया है, इस ज्ञापन से बहिर् के योग में पंचमी होती है।

ग्ग्रमाद बहिः (ग्राम के बाहर)–यहाँ 'बहिः' शब्द के योग में 'ग्राम' शब्द से पंचमी विभक्ति हो जाती है। यद्यपि किसी सूत्र आदि से 'बहिः' शब्द के साथ पंचमी विभक्ति का विधान नहीं किया गया तथापि अपपरिबहिरचवः पयम्या 2।1।12 इस सूत्र में 'बहिः' शब्द का पचम्यन्त के साथ समास विधान किया गया है। उससे ज्ञात होता है कि 'बहिः' के योग में पचमी विभक्ति होती है। यदि इसके साथ पंचमी विभक्ति न होगी तो पंचम्यन्त से समास कैसे होगा।

अपपरी वर्जने. 1.4.88

एतौ वर्जने कर्मप्रवचनीयौ स्तः।

व्याख्याः वर्जने अर्थ को द्योतित करने में 'अप' और 'परि' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है।

आङ् मर्यादावचने. 1.4.89

आङ् मर्यादायामुक्तसंज्ञः स्यात्। वचनग्रहणादभिविधावपि।

व्याख्याः आङ्मर्यादावचने–मर्यादा अर्थ में 'आङ्' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है। 'आङ्मर्यादायाम्' ऐसा कहने से ही ऊपर लिखा अर्थ निकल आता फिर 'वचन' शब्द अधिक दिया है। इसका अभिप्राय यह है कि 'अभिविधि' में भी 'आङ्' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा इष्ट है। मर्यादा का अर्थ है–उसके बिना (तेन विनेति मर्यादा)। अभिविधि का अर्थ है उसके सहित (तेन सहेत्यभिविधिः)।

पचम्यपाङ्परिभिः . 2.3.10

एतैः कर्मप्रवचनीयैर्योगे पंचमी स्यात्। अप हरेः, परि हरेः संसारः। परिरत्र वर्जने। लक्षणादौ तु हरिं परि। आमुक्तेः संसारः। आ सकलाद् ब्रह्म।

व्याख्याः अप, आङ् परि इन कर्मप्रवचनीय संज्ञकों के योग में पंचमी विभक्ति होती है।

अप हरेः, परि हरेः संसारः– विष्णु से दूर रहने पर ही जन्म मरण रूप संसार है) यहाँ 'अप' तथा 'परि' वर्जन अर्थ में है अतः इनकी कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है तथा उपर्युक्त नियम से इनके योग में 'हरेः' में पंचमी विभक्ति होती है।

लक्षणादाविति–जहाँ 'परि' शब्द लक्षण, इत्थंभूताख्यान आदि अर्थ में होगा वहाँ तो इसकी 'लक्षणेत्थंभूताख्यान आदि सूत्र से कर्मप्रवचनीय संज्ञा होकर इसके योग में 'कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया' इससे द्वितीया ही होगी। जैसे–हरिं परि।

आमुक्तेः संसारः–(मुक्ति तक संसार है) यहाँ आ' मर्यादा अर्थ में है। मुक्ति होने पर जन्ममरण रूपी संसार नहीं रहता अतः मुक्ति मर्यादा है। इस 'आङ्' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होकर इसके योग में 'मुक्ति' शब्द से पंचमी विभक्ति हो जाती है।

आ सकलाद् ब्रह्म– (सभी तक ब्रह्म है)–यहाँ आङ् अभिविधि अर्थ में है क्योंकि सभी वस्तुओं में ही ब्रह्म है।

इस आङ् की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होकर इसके योग में उपर्युक्त नियम से 'सकलाद्' में पंचमी विभक्ति होती है।

प्रतिःप्रतिनिधिप्रतिदानयोः. 2.4.92

एतयोरर्थयो प्रतिरुवतसंज्ञः स्यात्।

व्याख्या: प्रतिनिधि तथा प्रतिदान अर्थ में 'प्रति' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है।

प्रतिनिधिप्रतिदाने च यस्मात्. 2.3.11

अत्र कर्मप्रवचनीयैर्योगे पंचमी स्यात्। प्रद्युम्नः कृष्णात् प्रति। तिलेभ्यः प्रतियच्छति माषान्।

व्याख्या: प्रतिनिधीति–जिसका कोई प्रतिनिधि अर्थात् प्रतिरूप होता है अथवा जिससे कोई वस्तु बदली जाती है उससे कर्मप्रवचनीय के योग में पंचमी विभक्ति होती है।

प्रद्युम्नः कृष्णात् प्रति– (प्रद्युमन कृष्ण के प्रतिनिधि हैं)–यहाँ 'प्रतिनिधि. आदि नियम से इसके योग में पंचमी विभक्ति होती है।

तिलेभ्यः प्रतियच्छति माषान् (तिलों से उड़दो को बदलता है)–यहाँ तिलों से उड़त बदले जाते हैं इस प्रतिदान को प्रति शब्द द्योतित करता है अतः प्रति की कर्मप्रवचनीय संज्ञा हो जाती है और इसके योग में 'तिलेभ्यः' शब्द में पंचमी विभक्ति होती है।

अकतर्यणे पंचमी .2.3.24

कर्तवर्जितं यदणं हेतुभूतं ततः पंचमी स्यात्। शताद् बद्धः अकर्तरि किम्? शतेन बन्धितः।।

व्याख्या: अकर्तयणे, इति–कर्ता से भिन्न जो ऋण (किसी का) हेतु हो, उससे पंचमी विभक्ति होती हैं

शताद् बद्धः–इसका अर्थ है–सौ (रुपये आदि) का ऋण न लौटाने के कारण बंध गया। यहाँ 'शत (ऋण) बन्धन का हेतु है अतः उपर्युक्त नियम से इससे पंचमी विभक्ति हो जाती है।

अकर्त्तरि किमिति–अकर्तरि शब्द का क्या प्रयोजन है? यह कि ऋण अर्थ में विद्यमान जिस शब्द की 'कर्ता' संज्ञा हो जाती है चाहे वह हेतु भी हो तो भी उसके योग में पंचमी विभक्ति नहीं होती। जैसे–'शतेन बन्धितः'; इसका अर्थ है–''सौ रुपये ने ऋणदाता से कर्जदार को बँधवा दिया'' शतेन बन्धितः अधमर्णः उत्तमर्णेन इत्यर्थः। 'बन्धितः' शब्द णिजन्त (प्रेरणार्थक) बन्ध् धातु से कर्म में 'क्त' प्रत्यय होकर बना है 'अधमर्ण उत्तमर्णेन बद्धः' ''कर्जदार को ऋणदाता ने बाँधा'' यह साधारण दशा (अणिजन्त) का रूप होगा। 'शत' बाँधने की प्रेरणादेता है। यह प्रयोजन कर्ता है और हेतु भी (तत्प्रयोजको हेतुश्च)। यह शत की कर्तसंज्ञा हो जाने के कारण इससे पंचमी विभक्ति नहीं होती।

विभाषा गुणेस्त्रियाम् . 2.3.25

गुणे हेतावस्त्रीलिङ्गे पंचमी वा स्यात्। जाड्याज्जाड्येन वा बद्धः। गुणे किम्? धनेन कुलम्। अस्त्रियां किम्? बुद्धया मुक्तः। विभाषेति योगविभागाद् गुणे स्त्रियां च क्वचित्। धूमादग्निमान्। नास्ति घटोनुपलब्धेः।।

व्याख्या: जो गुणवाचक शब्द हेतु को प्रकट करता है और स्त्रीलिङ्ग नहीं है उससे विकल्प से पंचमी विभक्ति होती है। पक्ष में ततीया विभक्ति होती है।

जाड्यात् जाड्येन वा बद्धः (जड़ता के कारण बंध गया)–यहाँ 'जाड्य' बन्धन का हेतु है। यह गुणवाचक शब्द है और स्त्रीलिङ्ग में भी नहीं। अतएव इससे पंचमी तथा ततीया विभक्ति होती है।

गुणे किमिति–गुणवाचक शब्द से पंचमी होती है, ऐसा क्यों कहा? इसलिये कि जो शब्द गुणवाचक नहीं उसमें पंचमी विभक्ति नहीं होती अपितु हेतु में ततीया विभक्ति ही होती है, जैसे–धनेन कुलम् (धन के कारण कुल)।

अस्त्रियां किमिति–सूत्र में 'अस्त्रियाम्' शब्द का क्या प्रयोजन है? यह कि जो शब्द गुणवाचक हो किन्तु स्त्रीलिङ्ग

हो उससे पंचमी विभक्ति न होगी; अपितु हेतु में ततीया विभक्ति ही होती है जेसे–बुद्धया मुक्तः (बुद्धि के कारण मुक्त हो गया) यहाँ 'बुद्धि' से ततीया विभक्ति होती है।

विभाषा इति योगविभागाद् इति–'विभाषा गुणेस्त्रियाम्'' इस सूत्र में विभाग करके 'विभाषा' एक सूत्र मान लेते है। उसमें ऊपर से 'हेतौ' ओर 'पंचमी'; शब्द की अनुवत्ति हो जाती है तथा उसका अर्थ होता है–हेतु में विकल्प से पंचमी विभक्ति होती है। इसका फल यह होता है–

1. कहीं–कहीं गुणवाचक शब्द न होने पर भी पंचमी विभक्ति हो जाती है जैसे–'धूमाद् अग्निमान्'– (धुआँ होने से अग्नि वाला है)–यहाँ 'घूम' गुणवाचक नहीं तथापि पंचमी विभक्ति होती है।

2. कहीं स्त्रीलिङ्ग शब्दों से भी हेतु में पंमची विभक्ति हो जाती है, जैसे–''नास्ति घटोनुपलब्धेः'' (उपलब्धि न होने से घट नहीं है)–यहाँ ''अनुपलब्धि'' शबद स्त्रीलिङ्ग है तथापि पंचमी विभक्ति हो जाती है।

पथग्विनानानाभिस्ततीयान्यतरस्याम् . 2.3.32

एभिर्योगे ततीयास्यात्पचमीद्वितीये च। अन्यतरस्यां ग्रहणं समुच्चयार्थम् पचमीद्वितीये चानुवर्तेते। पथग् रामेण रामात् रामं वा। एवं विना नाना।

व्याख्याः पथग्विनेति–पथक्, विना, नाना के योग में विकल्प से ततीया विभक्ति होती है और (पक्ष में) पंचमी तथा द्वितीया विभक्ति भी होती है।

अन्यतरस्यामिति–सूत्र में 'अन्यतरस्याम्' शब्द (जिसका अर्थ वा या 'विकल्प से' है)–पंचमी और द्वितीया विभक्ति के समावेश के लिये है। पंचमी और द्वितीया दोनों की अनुवत्ति आ रही है; पंचमी की मण्डूकप्लुति द्वारा अपादाने पंचमी 2.3.28 से ओर द्वितीया की पहले सूत्र 'एनपा द्वितीया 2.3.31' से।

पथग् रामेण रामात् रामं वा (राम से अलग) –यहाँ पथक् शब्द के योग में 'राम' शब्द से ततीया अथवा पंचमी द्वितीया विभक्ति हो जाती है। इसी प्रकार–

रामात् रामेण, रामं वा विना जीवितुं नोत्सहे (राम के विना में जी नहीं सकता) 'नाना नारीं निष्फला लोकयात्रा' (नारी के विना जीवन निष्फल है) आदि प्रयोगों में विना तथा नाना के योग में ततीया, पंचमी अथवा द्वितीया विभक्ति होती है।

करणे च स्तोकाल्पकृच्छ्रकतिपयस्यासत्त्ववचनस्य. 2.3.33

एभ्योद्रव्यवचनेभ्यः करणे ततीयापंचम्यौ स्तः। स्तोकेन स्तोकाद्वा मुक्तः। द्रये तु-स्तोकेन विषेण हतः।

व्याख्याः स्तोक (थोड़ा), अल्प (थोड़ा), कृच्छ्र (कष्ट), कतिपय (कुछ) इन शब्दों का जब द्रव्य के लिये प्रयोग नहीं होता तो इनसे करण में ततीया अथवा पंचमी विभक्ति (विकल्प से) होती है। असत्त्ववचनस्य का अर्थ है–'अद्रव्यवाची का' अर्थात् जब इनका प्रयोग द्रव्य के समानाधिकरण रूप में नहीं होता।

स्तीकेन स्तोकाद्वा मुक्त– इसका अर्थ है–थोड़े से (प्रयास) से ही मुक्त हो गया। यहाँ 'स्तोक' शब्द किसी द्रव्य का विशेषण नहीं, अतः उपर्युक्त नियम से इसमें ततीया तथा पंचमी विभक्ति विकल्प से हो जाती है। इसी प्रकार 'अल्पेन अल्पाद् वा मुक्तः, 'कृच्छ्राद् वा मुक्तः', 'कतिपयेन कतिपयाद् वा मुक्तः' आदि प्रयोग होते हैं।

द्रव्ये स्थिति–जहाँ 'स्तोक' आदि शब्दों का द्रव्य के लिये प्रयोग किया जाता है अर्थात् ये किसी द्रव्यवाची शब्द के विशेषण के रूप में प्रयुक्त होते हैं वहाँ इनमें केवल ततीया विभक्ति ही होती है, पंचमी नहीं, जैसे– 'स्तोकेन विषेण हतः' (थोड़े से विष से मारा गया) यहाँ 'स्तोक' शब्द 'विष' का विशेषण है। 'विष' द्रव्य वा ची है।

दूरान्तिकार्थेभ्यो द्वितीया च. 2.3.35

एभ्यो द्वितीया स्याच्चात्पचमीततीये। प्रातिपदिकार्थमात्रे विधिरयम् ग्रामस्य दूरं-दूरात्-दूरेण वा। अन्तिकम् अन्तिकात्-अन्तिकेन वा। असत्त्ववचनस्येत्यनुवत्ररिह। अदूरः पन्थाः।। इति पंचमी।।

व्याख्याः दूरान्तिकेति –दूर तथा समीप (अन्तिक) अर्थ वाले शब्दों से द्वितीया होती है और पंचमी तथा ततीया विभक्ति भी।

ये विभक्तियाँ केवल प्रातिपदिकार्थ में होती हैं। इनका अन्य कोई अर्थ नहीं होता। यह नियम प्रथमा विभक्ति का अपवाद है।

ग्रामस्य दूरम्, दूरात् दूरेण वा – (ग्राम से दूर)–यहाँ उपर्युक्त नियम के अनुसार 'दूर, शब्द से द्वितीया, पंचमी तथा ततीया विभक्ति होती है। इसी प्रकार–''ग्रामस्य अन्तिकम्, अन्तिकेन वा' {ग्राम के निकट} में भी।

असत्त्वेति–'दूरान्तिकार्थेभ्य.' सूत्र में भी असत्त्वचनस्य {अद्रव्यवाची} की अनुवत्ति है जो दूर और अन्तिक अर्थ वाले शब्द व्य' के विशेषण नहीं उनमें ही ऊपर का नियम लागू होता है। अतः ''दूरः पन्थाः'' में दूर पथ का विशेषण है और ''पन्थाः'' द्रव्यवाची शब्द है। अतः प्रथमा विभक्ति का प्रयोग हुआ है। इति पंचमी।।

षष्ठी विभक्ति।

षष्ठी शेषे: 2.3.50

कारकप्रातिपदिकार्थव्यतिरिक्तः स्वस्वामिभावादिसंबंधः शेषस्तत्र षष्ठी स्यात्–राज्ञः पुरुषः। कर्मादीनामपि संबंधमात्रविवक्षायां षष्ठ्येव, सतां गतम्। सर्पिषो जानीते। मातुः स्मरति। एधोदकस्योपस्कुरुते। भजे शम्भोश्चरणयोः। फलानां तप्तः।।

व्याख्याः षष्ठी शेषे–शेष का अर्थ है–जो कहा जा चुका है उससे बचा हुआ {उक्तादन्यः शेषः}। कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान तथा अधिकरण कारक और प्रातिपदिकार्थ का इससे पूर्व अष्टाध्यायी में वर्णन किया जा चुका है, अतएव उनसे बचा हुआ, जो स्व {अपनी वस्तु धन या व्यक्ति} तथा स्वामी आदि का सम्बन्ध है, वह शेष है। उस सम्बन्ध को प्रकट करने के लिये षष्ठी विभक्ति का प्रयोग होता है।

टिप्पणीः षष्ठी विभक्ति प्रायेण संज्ञा और सर्वनामों के पारस्परिक संबंध को प्रकट करती है और यह 'संबंध' संस्कृत में 'कारक' नहीं माना जाता, यह पहले कहा जा चुका है। किन्तु जब षष्ठी विभक्ति कर्म आदि में होती है तो यह कारक विभक्ति भी हुआ करती है।

राज्ञ पुरुषः (राजा का पुरुष)–यहाँ राजा स्वामी है। उसका स्वामित्व पुरुष पर दिखलाया गया है, अतः पुरुष 'स्व' है। स्व तथा स्वामी को संबंध दिखलाने में जिसका (किसी पर) स्वामित्व दिखाया जाता है उससे षष्ठी विभक्ति हो जाती है, इसलिये 'राज्ञः' में षष्ठी विभक्ति है।

कर्मादीनामपि, इति–जब कर्म आदि कारकों में केवल संबंध बतलाने की इच्छा होती है (कर्तत्वादि की विवक्षा नहीं होती) तो वहाँ (शेषे) षष्ठी विभक्ति ही होती है। जैसे– 'सतां गतम्, –यहाँ भाव में क्त प्रत्यय है। ''सत्पुरुषों का गमन'' यह अर्थ होता है अतः संबंध मात्र की विवक्षा में कर्ता सत् शब्द से षष्ठी विभक्ति होकर 'सताम्' शब्द बनता है। इसी प्रकार–

सर्पिषो जानीते–इसका अर्थ है–''सर्पिषा उपायेन प्रवर्तते'' अर्थात् 'घत के द्वारा प्रवत्त होता है।' यहाँ सर्पिस्' (घत) प्रवत्ति का करण है। उसमें संबंध मात्र की विवक्षा होने पर षष्ठी विभक्ति हो जाती है।

मातुः स्मरति–(माता को स्मरण करता है)–यहाँ 'माता' स्मरण का कर्म है। कर्म में संबंध मात्र की विवक्षा होने पर षष्ठी विभक्ति हो जाती है।

एधोदकस्य उपस्कुरुते (काष्ठ जल को परिष्कृत करता है अथवा काष्ठ और जल को परिष्कृत करता है)–''एधः'' शब्द अकारान्त पुं0 है। अथवा 'एधस्' सकारान्त नपुं0। इसका अर्थ है काष्ठ। पहिले अर्थ में 'एधः' पथक् शब्द है। यह कर्ता है। उदक शब्द का अर्थ है–जल (उदक) यह कर्म है। कर्म में संबंध मात्र की विवक्षा होने से षष्ठी विभक्ति हो जाती है। दूसरे अर्थ में 'एधाश्च उदकं चैषां समाहारः एधोदकम्' यहाँ एध शब्द अकारान्त है। 'एधोदक' समस्त पद कर्म है। उसमें संबंध की विवक्षा होने से षष्ठी विभक्ति होती है।

भजे शम्भोश्चरणयोः (शम्भु के चरणों का भजन करता हूँ) यहाँ 'चरण' कर्म है। इसमें संबंध मात्र की विवक्षा होने से षष्ठी विभक्ति हो जाती है।

फलानां तप्तः (फलों से तप्त हुआ)–यहाँ फल करण है। इसमें संबंध मात्र की विवक्षा होने से षष्ठी विभक्ति हो जाती है।

षष्ठी हेतुप्रयोगे. 2.3.26

हेतुशब्दप्रयोगे हेतौ द्योत्ये षष्ठी स्यात्। अन्नस्य हेतोर्वसति।

व्याख्या: यदि हेतु शब्द का प्रयोग हो तथा कारणता प्रकट करनी हो तो (हेतु शब्द तथा कारणबोधक शब्द दोनों में) षष्ठी विभक्ति होती है।

जैसे– अन्नस्य हेतोर्वसति (अन्न के लिये बसता है)–यहाँ रहने का प्रयोजन अन्न है। हेतु शब्द का प्रयोग भी किया गया है। इसलिये 'अन्न' शब्द तथा हेतु शब्द दोनों से षष्ठी विभक्ति हो जाती है।

सर्वनाम्नस्ततीया च . 2.3.27

सर्वनाम्नो हेतुशब्दस्य च प्रयोगे हेतौ द्योत्ये ततीया स्यात् षष्ठी च। केन हेतुना वसति। कस्य हेतोः।

व्याख्या: सर्वनाम्नस्ततीया चेति–सर्वनाम के साथ हेतु शब्द का प्रयोग होने पर हेतु प्रकट करने के लिये (सर्वनाम और हेतु शब्द दोनों में) ततीया तथा षष्ठी विभक्ति होती है।

केन हेतुना वसति–(किस लिये रहता है?) यहाँ हेतु शब्द का सर्वनाम के साथ प्रयोग किया गया है तथा हेतु प्रकट करना है, अतएव उपर्युक्त नियम से 'केन तथा हेतुना' दोनों में ततीया विभक्ति होती है। पक्ष में षष्ठी विभक्ति होती है– 'कस्य हेतोः'।

(वा) निमित्तपर्यायप्रयोगे सर्वासां प्रायदर्शनम्

किं निमित्तं वसति। केन निमित्तेन। कस्मै निमित्तायेत्यादि। एवं किं कारणम्, को हेतुः, किं प्रयोजनमित्यादि। प्रायग्रहणादसर्वनाम्नः प्रथमाद्वितीये न स्तः। ज्ञानेन निमित्तेन हरिः सेव्य। ज्ञानाय निमित्तायेत्यादि।।

व्याख्या: निमित्तेति (वा)–निमित्त शब्द के पर्यायवाची (कारण, प्रयोजन आदि) शब्दों का प्रयोग होने पर प्रायः सभी विभक्तियाँ देखी जाती हैं । जैसे–

किं निमित्तं वसति (किस लिये रहता है)–यहाँ प्रथमा या द्वितीया विभक्ति है।

केन निमित्तेन (ततीया) कस्मै निमित्ताय (चतुर्थी)। इसी प्रकार–कस्मात् निमित्तात्, कस्य निमित्तस्य, कस्मिन् निमित्ते इत्यादि तथा निमित्त के पर्यायवाची के प्रयोग में ''किं कारणम्'' इत्यादि होते हैं।

प्रायग्रहणाद् इति–वार्तिक में प्राय शब्द का ग्रहण किया है। इसका तात्पर्य यह है कि जहाँ सर्वनाम का प्रयोग नहीं होता (असर्वनाम्नः) वहाँ प्रथमा तथा द्वितीया विभक्ति नहीं होती, अन्य सब विभक्तियाँ होती हैं। जैसे–

ज्ञानेन निमित्तेन हरिः सेव्यः {ज्ञान के लिये हरि की सेवा करनी चाहिये}–यहाँ 'ज्ञान' तथा 'निमित्त' दोनों शब्दों से उपर्युक्त नियम के अनुसार ततीया विभक्ति होती है। इसी प्रकार 'ज्ञानाय निमित्ताय' आदि में चतुर्थी इत्यादि हो जाती है। किन्तु 'ज्ञान' शब्द सर्वनाम नहीं है अतः यहाँ प्रथमा एवं द्वितीया विभक्ति नहीं होती।

षष्ठ्यतसर्थप्रत्ययेन 2.3.30

एतद्योगे षष्ठी स्यात्। 'दिक्शब्द-' इति पंचम्या अपवादः। ग्रामस्य दक्षिणतः। पुरः पुरस्तात्। उपरि उपरिष्टात्।

व्याख्या: षष्ठ्यतसर्थ इति–अतस् (अतसुच्) प्रत्यय तथा उसके अर्थ वाले प्रत्यय लगाकर बने हुए (दक्षिणतः, पुरः, पुरस्तात् इत्यादि) शब्दों के योग में षष्ठी विभक्ति होती है।

'अन्याराात्0 2.3.29।। सूत्र में दिक् शब्द का ग्रहण करने से दक्षिणतः आदि के योग में पंचमी प्राप्त थी उसकी यह सूत्र अपवाद है, अर्थात् उस पंचमी को बाधकर षष्ठी का विधान करता है।

ग्रामस्य दक्षिणतः–(ग्राम के दक्षिण की ओर)–यहाँ दक्षिणतः में अतसुच्, (दक्षिणोत्तराभ्यामतुसुच् 5।3।28) प्रत्यय है। यह प्रत्यय दिग्देशकालवाची शब्दों से स्वार्थ में कहा गया है। उपर्युक्त नियम के अनुसार दक्षिणतः के योग में 'ग्राम' शब्द से षष्ठी विभक्ति होती है।

इसी प्रकार–ग्रामस्य पुरः, यहाँ शब्द पूर्व शब्द से 'असि' प्रत्यय होकर बना है। पूर्व को पुर् आदेश होकर पुर + अस् पुर+ हो जाता है। (पूर्वाधरावराणामसि पुरधवश्चैषाम् 5.3.39)। असि प्रत्यय भी अतसुच् अर्थ में ही है। पुरस्तात पूर्व+अस्तति पुरः अस्तात् पुरस्तात्। उपरि तथा उपरिष्टात् दोनों शब्द अतसर्थ प्रत्यय के प्रकरण में ऊर्ध्व शब्द से रिल् तथा रिष्टाति प्रत्यय और ऊर्ध्व को 'उप आदेश निपातन द्वारा बनाये गये हैं। इनके योग में षष्ठी विभक्ति होती है–''ग्रामस्य'' उपरिष्टात्'' इत्यादि।

एनप द्वितीया 2.3.31

एनबन्तेन योगे द्वितीया स्यात्। एनपेति। योगविभागात्षष्ठ्यपि। दक्षिणेन ग्रामं ग्रामस्य वा। एवमुत्तरेण।

व्याख्याः एनपेति–एनप् प्रत्ययान्त शब्दों के योग में द्वितीया विभक्ति होती है। यहाँ 'एनपा' इतना सूत्र अलग मानकर उसमें षष्ठ्यसर्थ0 2.3.30 षष्ठी की अनुवत्ति लाते हें इस प्रकार 'एनप्' प्रत्ययान्त शब्दों के योग में षष्ठी विभक्ति भी होती है।

दक्षिणेन ग्रामं ग्रामस्य वा {ग्राम के दक्षिण}–दक्षिणेन शब्द से एनप् प्रत्यय {एनबन्यतरस्यामदूरेपचम्याः 5.3.35} होकर बना है। इसके योग में उपर्युक्त नियम के अनुसार ''ग्राम'' वा ''ग्रामस्य'' में द्वितीया, या षष्ठी विभक्ति होती है।

दूरान्तिकार्थैः षष्ठ्यन्यतरस्याम्. 2.3.34

एतैर्योगे षष्ठी पंचमी च। दूरं निकटं। ग्रामस्य ग्रामाद्वा।

व्याख्याः दूर और समीप अर्थ वाले शब्दों के योग में षष्ठी तथा पंचमी विभक्ति होती है। जैसे–दूरं निकटं ग्रामस्य, ग्रामाद् वा (ग्राम से दूर या समीप)।

ज्ञोविदर्थस्य करणे . 2.3.51

जानातेरज्ञानार्थस्य करणे शेषत्वेन विविक्षते षष्ठी स्यत्। सर्पिषो ज्ञानम्।

व्याख्याः ज्ञोविदर्थस्येति–अविदर्थस्य का अर्थ है–ज्ञान से भिन्न अर्थ वाली। ज्ञान से भिन्न अर्थ वाली जानाति (ज्ञा) के करण में संबंध मात्र की विवक्षा होने पर षष्ठी विभक्ति होती है।

ज्ञानम्–इसका अर्थ है–घत संबंधी (घत द्वारा होने वाली) प्रवत्ति। यहाँ ज्ञा धातु ज्ञानपूर्वक प्रवत्ति अर्थ में है। 'सर्पिस्' (घत) करण है। इसमें संबंध की विवक्षा में षष्ठी विभक्ति होती है।

ज्ञोविर्थस्य करणे 2.3.51 से लेकर व्यवहृपणोः समर्थयोः 2.3.57 तक से सूत्रों में तथा कृत्वोर्थप्रयोगे 2.3.64 इस सूत्र में 'शेषे' की अनुवत्ति आती है अतः 'पष्ठी शेषे' सूत्र से ही इनके विषय में षष्ठी विभक्ति सिद्ध है। इन सूत्रों से फिर षष्ठी का विधान इसलिए किया गया है कि ''सर्पिषो ज्ञानात्'' आदि में षष्ठी समास न हो, जैसा कि कहा है–''प्रतिपदविधाना षष्ठी न समस्यते''।

अधीगर्थदयेशां कर्मणि. 2.3.2

एषां कर्मणि शेषे षष्ठी स्यात्। मातुः स्मरणम्। सर्पिषो दयनम् ईशनं वा।।

व्याख्याः अधीगर्थ इति–{अधि पूर्वक इ धातु (इक् स्मरणे)= अधीक्, अधीगर्थ का अर्थ है–स्मरणार्थक}। स्मरणार्थक धातुएँ तथा दय् (दानगतिरक्षणेषु) ईश् (ऐश्वर्ये) इनके कर्म में संबंध मात्र की विवक्षा होने पर षष्ठी न समस्यते''

मातुः स्मरणम्– {माता को याद करना}, सर्पिषो दयनम् {घत का दान देना,} सर्पिषो ईशनं {घत का यथेष्ट प्रयोग} इनमें 'मातुः' तथा सर्पिषः में षष्ठी विभक्ति हो जाती है तथा यहाँ षष्ठी समास नहीं होता।

कृाः प्रतियत्ने . 2.3.53

कृ्ः कर्मणि शेषे षष्ठी स्याद् गुणाधाने। एधोदकस्योपस्करणम्।।

व्याख्याः कृ् प्रतियत्न इति {प्रतियत्न का अर्थ है–गुणाधान अर्थात् किसी वस्तु में अन्य गुणों की स्थापना करना,जैसे–जल

में उष्णता पैदा करना}। कृ धातु के कर्म में संबंध मात्र की विवक्षा होने पर गुणाधान अर्थ में षष्ठी विभक्ति होती है। जैसे–''एधोदकस्य उपस्करणम्''।

रुजार्थानां भाववचनानामज्वरः. 2.3.54

भावकर्तकाणां ज्वरवर्जितानां रुजाथार्नां कर्मणि शेषे षष्ठी स्यात्। चौरस्य रोगस्य रुजा।।

व्याख्याः रुजार्थानाम् इति–ज्वरि धातु को छोड़कर अन्य रोगार्थक धातुओं के कर्म से संबंध मात्र की विवक्षा होने पर षष्ठी विभक्ति होती है जबकि उनका कर्ता भाववाचक शब्द हो।

चौरस्य रोगस्य रुजा (रोग द्वारा की हुई चोर की पीड़ा)–यहाँ भाववाचक 'रोग' शब्द रुजा अर्थात् पीड़ा का कर्त्ता है, चौर पीड़ा का कर्म है। उससे संबंध मात्र की विवक्षा में षष्ठी विभक्ति हो जाती है।

(वा) अज्वरिसंताप्योरिति वाच्यम् रोगस्य चौरज्वरः चौरसन्तापो वा। रोगकर्तकं चौरसम्बन्धि ज्वरादिकमित्यर्थः।।

व्याख्याः अज्वरि –इति (वा)–सूत्र में 'अज्वरेः' के स्थान पर ''अज्वरिसन्ताप्योः'' यह कहना चाहिये अर्थात् ज्वरि और सन्तापि धातु को छोड़कर। इसलिये–'रोगस्य चौरज्वरः' अथवा 'चौरसन्तापः' यहाँ चौरस्य ज्वरः (चौरज्वरः) में इस नियम से षष्ठी नहीं हुई, अपितु 'षष्ठी शेषे' से षष्ठी विभक्ति हुई तथा 'चौरज्वरः' में षष्ठी समास हो गया। इस सूत्र से षष्ठी होने पर तो समास न होता। यहाँ भी अर्थ उसी प्रकार होता है–'रोग द्वारा किया हुआ चौर संबंध ी ज्वार आदि।'

आशिषि नाथः 2.3.55

आशीरर्थस्य नाथतेः शेषे कर्मणि षष्ठी स्यात्। सर्पिषो नाथनम्। आशिषीति किम्? माणवकनाथनम् तत्सम्बन्धिनी याचेत्यर्थः।।

व्याख्याः आशिषीति–आशीः अर्थ वाली नाथ् धातु के कर्म में संबंध मात्र की विवक्षा होने पर षष्ठी विभक्ति होती है। 'आशीः' का अर्थ है अभिलाषा।

सर्पिषो नाथनम् (कर्मरूप घत संबंधी अभिलाषा)–यहाँ 'मेरे घत होवे' यह इच्छा है। 'सर्पिस्' नाथ् धातु का कर्म है। इसमें संबंध मात्र की विवक्षा में षष्ठी विभक्ति होती है। यहाँ भी समास नहीं होता।

आशिषि किमिति– सूत्र में 'आशिषि' शब्द का क्या प्रयोजन है? यह कि जब नाथ् धातु ''आशीः'' अर्थ में होती है तभी उपर्युक्त नियम से षष्ठी होती है, अन्यथा नहीं। जैसे–माणवकनाथनम् यहाँ पर यह षष्ठी नहीं होती। इसका अर्थ है–माणवक संबंधी याचना। यहाँ माणवक से कर्म में संबंध मात्र की विवक्षा में (षष्ठी शेषे) षष्ठी विभक्ति होती है और षष्ठी समास हो ही जाता ळै।

जासिनिप्रहणनाटक्राथपिषां हिंसायाम्. 2.3.56

हिंसार्थानामेषां शेषे कर्मणि षष्ठी स्यात्। चौरस्योज्जासनम्। निप्रौ संहतौ विपर्यस्तौ व्यस्तौ वा। चौरस्य निप्रहणनम्। प्रणिहननम्। निहननम्। प्रहणनं वा। नट अवस्यन्दने चुरादिः। चौरस्योन्नाटनम्। चौरस्य क्राथनम्। वषलस्य पेषणम्। हिंसाया किम्। धानापेषणम्।।

व्याख्याः जसीति–हिंसार्थक जासि (णिजन्त 'जसु ताडने' तथा ''जसु हिंसायाम्'') नि तथा प्र पूर्वक हन्, नाट् (णिजन्त नट्) क्राथ (णिजन्त क्रथ्) पिस् इन धातुओं के कर्म में संबंध मात्र की विवक्षा होने पर षष्ठी विभक्ति होती है।

चौरस्य उज्जासनम् (चौरी संबंधी हिंसा)–यहाँ चौर उज्जासन का कर्म है। इसमें संबंध मात्र की विवक्षा होने पर उपर्युक्त नियमानुसार षष्ठी विभक्ति होती है।

निप्रौ, इति–नि और प्र उपसर्ग इसी क्रम से मिले हुए (निप्र) विपरीत क्रम से मिले हुए (विपर्यस्तौ–प्रति इति) तथा पथक्– 2 रूप में (व्यस्तौ) लिये जाते हैं; अत एव ''चौरस्य निप्रहणनम्'', ''चौरस्य प्रणिहननम्' ''चौरस्य निहननम्'', ''चौरस्य प्रहणनम्'' षष्ठी में विभक्ति होती है।

चौरस्य उन्नाटनम्–यहाँ ''नट अवस्कन्दने'' चुरादिगण की धातु ली जाती है। अवस्कन्दन का अर्थ नाट्य है किन्तु उपसर्ग लगने से इसका अर्थ हिंसन हो जाता है। इसी प्रकार चौरस्य क्राथनम्, वषलस्य पेषणम् में भी षष्ठी होती है।

हिंसायां किमिति–हिंसा अर्थ में ही यह षष्ठी होती है ऐसा क्यों कहा? इसलिये कि– 'धनापेषणम्' (धानानां पेषणम्) यहाँ कृदन्त के योग में ही (कर्तकर्मणोः कृति अथवा षष्ठी शेषे से) षष्ठी होती है तथा यहाँ षष्ठी समास हो जाता है। जासि0 86, इत्यादि सूत्र से जहाँ षष्ठी होती है वहाँ षष्ठी समास नहीं होता यह कहा जा चुका है।

व्यवहृपणोः समर्थयोः 2.3.57

शेषे कर्मणि षष्ठी स्यात्। द्यूते क्रयविक्रयव्यवहारे चानयोस्तुल्यार्थता। शतस्य व्यवहरणं पणनं वा समर्थयोः किम्? शलाकावयहारः। गणनेत्यर्थः। ब्राह्मणपणनं स्तुतिरित्यर्थः।

व्याख्याः समान अर्थ वाली (वि+ अव पूर्वक हृ हरणे तथा पण व्यवहारे स्तुति च) धातु के कर्म में संबंध मात्र की विवक्षा होने पर षष्ठी विभक्ति होती है।

द्यूत इति–जुआ खेलना ओर क्रय–विक्रय करना इन दो अर्थों में व्यवहृ तथा पण धातु समान अर्थ वाली है।

शतस्य व्यवहरणं पणनं वा– {सौ का क्रय विक्रय या जुआ}–यहाँ 'शतस्य व्यवहरति' इस अर्थ में 'शत' कर्म है इसमें संबंध मात्र की विवक्षा होने पर षष्ठी विभक्ति होती है।

समर्थयोः किमिति–सूत्र में समान अर्थ वाली {समर्थयोः} क्यों कहा? इसलिये कि द्यूत तथा क्रय विक्रय व्यवहार से भिन्न अर्थ में इन धातुओं के कर्म में, इस नियम से, षष्ठी नहीं होती। जैसे–शलाकाव्यवहारः यहाँ 'व्यवहार' का अर्थ गणना है। यहाँ 'षष्ठी शेषे' से षष्ठी विभक्ति होकर षष्ठी समास हो जाता है। इस प्रकार 'ब्राह्मणपणनम्' अर्थात् 'ब्राह्मण की स्तुति' यहाँ भी।

दिवस्तदर्थस्य. 2.3.58

द्यूतार्थस्य क्रयविक्रयरूपव्यवहारार्थस्य दिवः कर्मणि षष्ठी स्यात्। शतस्य दीव्यति। तदर्थस्य किम्? ब्राह्मणं दीव्यति। स्तौतीत्यर्थः।।

व्याख्याः दिव इति– {सौ को दाँव पर या व्यवहार में लगाता है}–यहाँ 'शत' दीव्यति का कर्म है। इसमें उपर्युक्त नियम से षष्ठी विभक्ति हो जाती है।

टिप्पणीः इस सूत्र में 'शेषे' की अनुवत्ति नहीं आती, अतः यह षष्ठीविधान समास की निवत्ति के लये नहीं है, इसी से 'दीव्यति' यह तिङन्त का प्रयोग दिया है पहले सूत्रों के समान कृदन्त का नहीं।

तदर्थस्य किम् इति–द्यूत तथा क्रय विक्रय व्यवहार इन अर्थों में प्रयुक्त 'दिव्' धातु के कर्म में षष्ठी होती है जहाँ इन दोनों अर्थों से भिन्न अर्थ में दिव् धातु का प्रयोग होता है वहाँ कर्म में षष्ठी नहीं होती, अतएव 'ब्राह्मणं दीव्यति' में कर्म में द्वितीया ही होती है। यहाँ दीव्यति का अर्थ है–स्तुति करता है।

विभाषोपसर्गे. 2.3. 59

पूर्वयोगापवादः शतस्य शतं वा प्रतिदीव्यति

व्याख्याः उपसर्ग पूर्वक दिव् धातु के कर्म में विकल्प से षष्ठी विभक्ति होती है। यह पहले नियम का अपवाद है। जैसे–शतस्य शतं वा प्रतिदीव्यति–यहाँ षष्ठी तथा द्वितीया विभक्ति विकल्प से होती है।

प्रष्यब्रुवोर्हविषो देवतासंप्रदाने. 2.3.61.

देवता संप्रदानेर्थे वर्तमानयोः प्रेष्यब्रु वोः कर्मणोः हविर्विशेषस्य वाचकाच्छब्दात्षष्ठी स्यात्। अग्नये छागस्य हविषो वपासा मेदसः प्रेष्य अनुब्रूहि वा।

व्याख्याः प्रेष्यब्रु वोरिति–{देवतासम्प्रदाने शब्दे का अर्थ है–'देवता सम्प्रदानं यस्य तस्मिन् अर्थात् जहाँ देवता का उद्देश्य करके

कुछ दिया जाता है। प्रेष्य शप्द प्र पूर्वक इष् धातु (दिवादि) का लोट् लकार मध्यम पुरुष का एकवचन है। इसके साहचर्य से 'ब्रा' धातु का भी लोट् मध्यमपुरुष का एकवचन ही लिया जाता है}–देवतासम्प्रदान अर्थ में विद्यमान प्रेष्य तथा (ब्रूहि) के कर्म हविः वाचक शब्द से षष्ठी विभक्ति होती है।

आग्नये छागस्य हविषो वपाया मेदसः प्रेष्य अनुब्रू हि वा– यहाँ हविः विशेषवाचक वपा तथा मेदस् शब्द से षष्ठी विभक्ति होती है और हविस् शब्द से भी।

कृत्वोर्थप्रयोगे कालेधिकरणे . 2.3.64

कृत्वोर्थानां प्रयोगे कलावाचिन्यधिकरणे शेष षष्ठी स्यात्। पंचकृत्वोहो भोजनम्। द्विरह्नो भोजनम्। शेषे किम्? द्विरहन्यध्ययनम्।।

व्याख्याः कृत्व वाले प्रत्ययों के प्रयोग में कालवाचक अधिकरण में संबंध मात्र की विवक्षा होने पर षष्ठी विभक्ति होती है।

क्रिया की आवत्ति को प्रकट करने के लिये संख्या से कृत्वसुच् प्रत्यय होता है–'संख्यायाः क्रियाभ्यावत्तिगणने कृत्वसुच्'। 5.4.17।

पचकृत्वोह्नो भोजनम् {दिन में पाँच बार भोजन}–यहाँ कालवाचक 'अहन्' शब्द से षष्ठी विभक्ति {अह्नः} हो गई है।

द्विरह्नो भोजनम् {दिन में दो बार भोजन}–यहाँ द्वि शब्द से कृत्सुच् प्रत्यय के अर्थ में सुच् प्रत्यय हुआ है।[1] इसके योग में 'अहन्' शब्द से षष्ठी विभक्ति होती है।

शेषे किम् इति–संबंध मात्र की विवक्षा में ही षष्ठी, विभक्ति होती है, अतएव 'द्विः अहनि अध्ययनम्' यहाँ अहनि में सप्तमी विभक्ति हुई है क्योंकि यहाँ अधिकरण की विवक्षा है।

कर्तकर्मणोः कृति . 2.3.65

कृद्योगे कर्तरि कर्मणि च षष्ठी स्यात्। कृष्णस्य कृतिः । जगतःकर्ता कृष्णः।।

व्याख्याः कर्तकर्मणोः कृति–कृदन्त के योग में कर्ता तथा कर्म में षष्ठी विभक्ति होती है।

कृष्णस्य कृति–{कृष्ण का कार्य}–यहाँ पर 'कृति' शब्द कृदन्त है। यह कृ धातु से क्तिन् प्रत्यय जोड़ने से बना है। इसका कर्त्ता कृष्ण है। अतः कृदन्त शब्द {कृति} के योग में कर्त्ता 'कृष्ण' शब्द से षष्ठी विभक्ति होती है।

जगतः कर्त्ता कृष्णः {जगत् का कर्त्ता कृष्ण}–यहाँ पर कर्त्ता शब्द कृदन्त है। यह 'कृ' धातु से तच् प्रत्यय होकर बना है। इसका कर्म 'जगत्' है। उपर्युक्त नियम के अनुसार जगत् शब्द से कृत्प्रत्ययान्त {कर्त} के योग में षष्ठी विभक्ति होती है।

(वा) गुणकर्मणि वेष्यते।

नेताश्वस्यस्रु ध्नस्य स्रु ध्नं वा। कृति किम्? तद्धिते मा भूत्। कृत-पूर्वी कटम्।।

व्याख्याः गुणकर्मणीति {वा} –कृत्प्रत्ययान्त द्विकर्मक धातु के योग में गौण कर्म में विकल्प से षष्ठी विभक्ति होती है। मुख्य कर्म में नित्य षष्ठी होती है; जैसे– नेता अश्वस्य स्रुध्नस्य स्रुघ्नं वा {स्रुध्न नामक स्थान को घोड़ा ले जाने वाला}–नी धातु द्विकर्मक है। इसका मुख्य कर्म अश्व' है और गौण कर्म {'अकथितं च' के अनुसार} स्रुध्न है। उपर्युक्त वार्त्तिक के अनुसार स्रुध्नस्य स्रुध्नं वा।

कृति किम् इति–सूत्र में 'कृति' शब्द का ग्रहण क्यों किया? इसलिये कि कृदन्त के प्रयोग में ही कर्ता और कर्म में षष्ठी होती है, तद्धितान्त के प्रयोग में नहीं। इसका फल यह होता है कि ''कृतपूर्वी कटम्'' यहाँ कट शब्द से षष्ठी विभक्ति नहीं होती। 'पूर्वं कृतमनेन' इस अर्थ में 'कृत+पूर्व' शब्द से तद्धित इनि {पूर्वादिनिः 5 ।2 ।86। सपूर्वाच्च 5 ।2 ।87।} प्रत्यय होकर कृतपूर्वी शब्द बनता है। फिर कर्म की अपेक्षा होने पर 'कट' शब्द का कर्म रूप में अन्वय होता है। 'कट' शब्द 'कृत' शब्द का कर्म है अतः षष्ठी प्राप्त होती है किन्तु 'कृति' ग्रहण से तद्धितमात्र भी अधिक हो जाने पर षष्ठी विभक्ति नहीं हो पाती।

उभयप्राप्तौ कर्मणि. 2.3.66

उभ्योः प्राप्तिर्यस्मिन् कृति तत्र कर्मण्येव षष्ठी स्यात्। आश्चर्यो गवां दोहोगोपेन।।

व्याख्याः जहाँ कृदन्त के योग में कर्त्ता और कर्म दोनों में षष्ठी प्राप्त होती है वहाँ कर्म में होती है कर्त्ता में नहीं।

आश्चर्यो गवां दोहोगोपेन (गोपाल से भिन्न व्यक्ति के द्वारा गोदोहन आश्चर्य की बात है)– यहाँ 'दोहः' कृदन्त है (दुह+घा्) इसके योग में अगोप कर्त्ता में तथा 'गो कर्म में षष्ठी प्राप्त है। उपर्युक्त नियम से कर्म में ही षष्ठी होती है। कर्त्ता (अगोपेन) में नहीं।

(वा) स्त्रीप्रत्यययोरकाकारयोर्नायं नियमः भेदिका बिभित्सा वा रुद्रस्य जगतः।।

व्याख्याः स्त्रीलिङ्ग में होने वाले कृत् प्रत्यय 'अक' (ण्वुल् आदि) तथा 'अ' में यह नियम (उभयप्राप्तौ कर्मणि) नहीं लगता अर्थात् वहाँ कर्त्ता में भी षष्ठी विभक्ति हो जाती है और साथ ही कर्म में भी।

भेदिका विभित्सा वा रुद्रस्य जगतः–'यहाँ भेदिका' शब्द भिद् धातु से ण्वुल् प्रत्यय होकर (ण्वुल् व = अक) तथा स्त्रीलङ्ग में टाप् प्रत्यय होकर बना है। विभित्सा सन्नन्त भिद् धातु (बि+भिद्+स) से 'अ' 'प्रत्यय +टाप् प्रत्यय होकर बना है। इन दोनों के योग में उपर्युक्त वार्त्तिक के अनुसार कर्त्ता (रुद्रस्य) तथा कर्म (जगतः) दोनों में ही षष्ठी विभक्ति हो जाती है।

*** (वा) शेषे विभाषा स्त्रीप्रत्यय। इत्येके। विचित्रा जगतः कृतिर्हरेर्हरिणा वा। केचिदविशेषेण विभाषामिच्छन्ति। शब्दानामनुशासनमाचार्येणाचार्यस्य वा।।**

व्याख्याः शेषे विभाषति (वा)– 'अक्' 'अ प्रत्यय से भिन्न स्त्रीलिङ्ग कृत् प्रत्ययों के प्रयोग में कर्म में नित्य षष्ठी तथा कर्त्ता में विकल्प से षष्ठी विभक्ति होती है ऐसा कुछ आचार्यों का मत है, जैसे विचित्रा जगतः कृतिर्हरेः (हरिणा वा)। यहाँ हरि कर्त्ता है। इससे कर्त्ता में विकल्प से षष्ठी विभक्ति होती है तथा पक्ष में ततीया होती है।

केचिद् इति–कुछ आचार्यों का मत है कि 'शेषे विभाषा' यह विकल्प अक्, अ से भिन्न स्त्री प्रत्ययों में ही नहीं होता अपितु सामान्य रूप से (अविशेषेण) सभी प्रत्ययों के प्रयोग में होता है, अतएव 'शब्दानामुशासनमाचार्येण आचार्यस्य वा' यहाँ अनुशासन (ल्युट् प्रत्यय ,नपुं0) के योग में भी आचार्य शब्द से विकल्प से षष्ठी विभक्ति हो जाती है। 'अनुशासन' शब्दनपुंसक लिङ्ग है।

क्तस्य चवर्तमाने.2.3.67

वर्तमानर्थस्य क्तस्य योगे षष्ठी स्यात्। न लोका 2.3.69 इति निषेधस्यापवादः। राज्ञां मतो बुद्धः पूजितो वा।।

व्याख्याः क्तस्य चेति–वर्तमान अर्थ में कहे 'क्त' प्रत्यय के योग में षष्ठी विभक्ति होती होती है।

मतिबुद्धिपूजार्थेभ्यश्च 3.2.188 से वर्तमान अर्थ से 'क्त'प्रत्यय कहा गया है, उसी का यहाँ ग्रहण है। 'न द्वलोका0। 2.3.69। क्त (निष्ठा) प्रत्यय के योग में षष्ठी का निषेध किया जायेगा। उसका यह अपवाद है।

राज्ञां मतो बुद्धः पूजितो वा (राजाओं द्वारा माना जाता है, जाना जाता है और पूजा जाता है)–यहाँ मतः (मन्+क्त) बुद्धः (बुधः+ क्त) और पूजितः (पूज्+ क्त) तीनों शब्द वर्तमान में क्त प्रत्यय होकर बने हैं। इनके योग में उपर्युक्त विभक्ति होती है।

अधिकरणवाचिनश्च. 2.3.68

क्तस्य योगे षष्ठी स्यात्। इदमेषामासितं शयितं भुक्तं वा।।

व्याख्याः अधिकरणेति–अधिकरणवाची क्त प्रत्यय के योग में षष्ठी विभक्ति होती है।

'क्तोकरणेति च ध्रौव्यगतिप्रत्यवसानार्थेभ्यः' 3।4।76।। इस सूत्र के अधिकरण से क्त प्रत्यय का विधान किया गया है उसी का यहाँ ग्रहण है। यह भी 'न लोका0 इस निषेध का अपवाद है।

इदमेषामासतिं। शयितं गतं भुक्तं वा –यहाँ 'आसित' इत्यादि में क्त प्रत्यय अधिकरण में हुआ है आस्यते अस्मिन्

इति आसितम, शेते अस्मिन् इति शयितम्। इनके योग में 'एषाम्' में षष्ठी विभक्ति होती है। यह कर्त्ता में षष्ठी है।

न लोकव्ययनिष्ठाखलर्थतनाम् . 2.3.69

एषां प्रयोगे षष्ठी न स्यात। लादेशः–कुर्वन् कुर्वाणो वा सष्टिं हरिः। उःहरिं दिदक्षुः अलङ्करिष्णुर्वा। उक-दैत्यान् घातुको हरिः।।

व्याख्याः ल+उ+उक यह पदच्छेद है। ल (ल के आदेश शत, शानच् आदि),उ, उक, कृदन्त अव्यय (क्त्वा आदि), निष्ठा {क्त, क्तवतु} खल् प्रत्यय के अर्थ वाले प्रत्यय तथा तन्–इनके प्रयोग में षष्ठी विभक्ति नहीं होती। {यह नियम 'कर्तकर्मणोः कृति' से प्राप्त षष्ठी का निषेध करता है}।

कुर्वन् कुर्वाणो वा सष्टिं हरिः {सष्टि करता हुआ हरि}–यहाँ कुर्वन् शब्द शत प्रत्ययान्त है {कृ+ शत कुर्वन्} तथा 'कुर्वाणः' शानच् प्रत्ययान्त हैं {कृ+शानच कुर्वाण}। शत और शानच् लट् लकार {ल} के आदेश है। ये कृतसंज्ञक भी है। इनके योग में 'कर्तकर्मणोः कृति' से षष्ठी विभक्ति प्राप्त होती है। उपर्युक्त नियम से षष्ठी का निषेध हो जाता है और कर्म में द्वितीया विभक्ति होती है।

हरिं दिदक्षुः {हरिदर्शन का इच्छुक}–यहाँ दिदक्षु सन्नन्त दश् धातु से 'उ' प्रत्यय होकर बना है। {दि+दश्+स+उ}, इसके योग में हरि में षष्ठी विभक्ति नहीं होती अपितु द्वितीया ही होती है।

हरिस् अलङ्करिष्णुः–यहाँ अलं पूर्वक कृ् धातु से इष्णुच् प्रत्यय {3 ।2 ।36} हुआ है। {अलं +कृ इष्णु}। सूत्र में 'उ' से उकारान्त कृदन्त लिया जाता है इसलिये यहाँ भी षष्ठी विभक्ति का निषेध होता है।

दैत्यान् घातुको हरिः {दैत्यों के घातक हरि}–'घातुक' शब्द 'हन्' धातु से 'उक्' प्रत्यय होकर बना है। यह कृत्प्रत्यय है। इसके योग में षष्ठी प्राप्त थी। इस नियम से षष्ठी का निषेध हो जाता है और कर्म में द्वितीया होती है।

वा. कमेरनिषेधः

लक्ष्म्याः कामुको हरिः। अव्ययम्-जगत् सष्ट्वा। सुखं कर्तुम्। निष्ठा-विष्णुना हता दैत्याः। दैत्यान् हतवान् विष्णुः। खलर्थः-ईषत्करः प्रपचो हरिणा। तन्निति प्रत्याहारः शतशानचाविति तशब्दादारभ्यातनो नकारात्।

शानच्-सोमं पवमानः। चानश्-आत्मानं मण्डयमानः। शत-वेदम- धीयन्। तन्-कर्त्ता लोकान्।

व्याख्याः कमेरिति {वा}–'उक' प्रत्ययान्त 'कम' धातु के योग में षष्ठी का निषेध नहीं होता अतएव 'लक्ष्म्याः कामुको हरिः' यहाँ 'कामुक' {कृदन्त} के योग में लक्ष्मी शब्द से षष्ठी विभक्ति हो जाती है।

जगत्सष्ट्वा {जगत् को रचकर} यहाँ सष्ट्वा शब्द–सज् धातु से क्त्वा प्रत्यय होकर बना है और क्त्वा प्रत्ययान्त अव्यय होते हैं। न लोकाव्यय सूत्र से कृदन्त अव्यय के योग में षष्ठी विभक्ति का निषेध किया गया है, अतएव यहां षष्ठी विभक्ति न होकर कर्म में द्वितीया विभक्ति होती है। इसी प्रकार 'सुखं कर्तुम्'। कर्तुम् = कृ+तुमुन् और तुमुन् अव्यय होते हैं। प्रत्ययान्त् विष्णुना हता दैत्या :{विष्णु के द्वारा दैत्य मारे गये} तथा दैत्यान् हतवान् विष्णु {विष्णु ने दैत्यों को मारा}–यहाँ 'हत' शब्द हन् धातु से क्त {हन् +क्त} प्रत्यय होकर बना है और 'हतवान' हन् धातु से क्तवतु {हन्+क्तवतु}। क्त क्तवतु की पाणिनिव्याकरण में निष्ठा संज्ञा है। उपर्युक्त नियम से निष्ठा के योग में षष्ठी का निषेध किया गया है। 'विष्णुना हताः दैत्याः' यहाँ क्त कर्म में हुआ है अतः कर्ता अनुक्त है उसमें षष्ठी नहीं होती अपितु ततीया विभक्ति होती है। 'दैत्यान् हतवान् विष्णुः' यहाँ क्तवतु कर्ता में हुआ है। कर्म अनुक्त है। उस कर्म {दैत्य} में षष्ठी नहीं होती अपितु द्वितीया विभक्ति होती है।

ईषत्करः प्रपचो हरिणा {हरि के लिये संसार –प्रपच सरल कार्य है}–यहाँ ईषत्कर = ईषत्+कृ+खल्। खल प्रत्यय कर्म में हुआ है। इसके योग में कर्ता {हरि} में षष्ठी प्राप्त होती थी उसका 'न लोकाव्यय0 ' नियम से निषेध किया गया है अतः कर्ता {हरिणा} में ततीया विभक्ति होती है।

तन् इति–सूत्र में तन् शब्द प्रत्याहार है। इसमें 'शतशानचौ' 3.2.34 के 'त' अक्षर से लेकर 'तन' 3.2.135 के नकार तक के प्रत्यय लिये जाते हैं इसके अन्तर्गत शानच्, चानश्, शत तथा तन, प्रत्यय आते हैं। इन प्रत्ययों के योग में षष्ठी विभक्ति नहीं होती, जैसे–सोमं पवमानः–सोम को पवित्र करता हुआ, (पवमानः = पू+शानच्), आत्मानं मण्डयमानः–अपने आप को भूषित करता हुआ (मण्डि+चानश्), वेदमधीयन्–वेद को पढ़ता हुआ (अधिः इ+शत), कर्त्त लोकान्–संसार को बनाने वाला (कृ+तन्) यहाँ 'सोमम्', 'आत्मानम्', 'वेदम्' तथा 'लोकान्' सर्वत्र षष्ठी न होकर कर्म में द्वितीया विभक्ति होती है।

तन् प्रत्ययाहार के अन्तर्गत 'लट्' के स्थान में होने वाले शत शनच् नहीं लिये जाते 'अधीयन्' में दूसरा ही 'शत' [1] प्रत्यय है।

द्विषः शतुर्वा

मुरस्य मुरं वा द्विषन्।। सर्वोयं कारकषष्ठ्याः प्रतिषेधः।। शेष षष्ठी तु स्यादेव। ब्राह्मणस्य कुर्वन्। नरकस्य जिष्णुः।।

व्याख्याः द्विषः इतिः (वा)–शत प्रत्ययान्त द्विष् धातु के योग में षष्ठी विभक्ति का निषेध विकल्प से होता है, अतएव मुरस्य मुरं वा द्विषन् (मुर नामक राक्षस का शत्रु)–यहाँ द्विषन् शब्द शत प्रत्ययान्त है। 'मुर' शब्द से विकल्प से षष्ठी तथा द्वितीया विभक्ति होती है।

सर्वोयम् इति– न लोकाव्यय 0। इस सूत्र से कारक षष्ठी (कर्तकर्मणोः कृति आदि से प्राप्त) का ही निषेध होता है। शेषे षष्ठी (अर्थात् किसी कारक में, संबंध मात्र की विवक्षा हो जाने पर) तो हो ही जाती है अतएव 'ब्राह्मणस्य कुर्वन्' 'नरकस्य जिष्णुः' में षष्ठी विभक्ति हो जाती है।

यह प्राचीनों का मत है। उनके मत में यहाँ 'कारक षष्ठी' न होने और शेषे षष्ठी हो जाने में शब्द–बोध का अन्तर है। नवीनों (नागेश भट्ट आदि) के मत में तो यहाँ शेषे षष्ठी भी नहीं होती।

अकेनोर्भविष्यदाधमर्ण्ययोः. 2.3.70

भविष्यत्यकस्य भविष्यदाधमर्ण्यार्थेनश्च योगे षष्ठी न स्यात्। सतः पालकोवतरति। व्रजं गामी। शतं दायी।।

व्याख्याः अकेनोरिति–भविष्यत् अर्थ में कहे हुए 'अक' प्रत्यय तथा भविष्यत् और आधमर्ण्य {अधमर्ण (कर्जदार) का भाव आधमर्ण्य} अर्थ में, उक्त 'इन' प्रत्यय के योग में षष्ठी विभक्ति नहीं होती। 'कर्तकर्मणाोः कृति' का अपवाद है।

सतः पालकोवतरति (जो सज्जनों का पालन करेगा वह अवतरित होता है,– यहाँ पालक शब्द भविष्यत् अर्थ में ण्वुल् (अक्) प्रतयय होकर बना है। इसके योग में सत् शब्द से षष्ठी न होकर द्वितीया (सतः) ही होती है।

व्रजं गामी (भविष्य में ब्रज को जाने वाला)–'गामी' शब्द गम् धातु से भविष्यत् काल में णिनि प्रत्यय (गम्ः इन्) होकर बना है। इसके योग में षष्ठी विभक्ति न होकर व्रज' से द्वितीया विभक्ति ही होती है।

शतं दायी (सौ–रुपये–का देनदार)–'दायी' शब्द 'दा' धातु से आधमर्ण्य अर्थ में 'णिनि' प्रत्यय होकर बना है (दा+इन्)। इसके योग में 'शत' शब्द से षष्ठी विभक्ति न होकर कर्म में द्वितीया विभक्ति होती है।

कृत्यानां कर्तरि वा .2.3.71

षष्ठी वा स्यात्।

मयो मम वा सेव्यो हरिः.

कर्तरीति किम्? गेयो माणवकः साम्नाम्। 'भव्य-गेय0 3.4.68' इति कर्तरि यद्विधानादनभिहितं कर्म। अत्र योगो विभज्यते।। कृत्यानाम्।। उभय प्राप्ताविति नेति चानुवर्तते। तेन नेतव्या व्रजं गावः कृष्णेनं ततः कर्तरि वा उक्तोर्थः।।

व्याख्याः कृत्यानाम् इति–कृत्य प्रत्ययों के योग में कर्त्ता में विकल्प से षष्ठी विभक्ति होती है।

कृत् प्रत्ययों के अन्तर्गत कुछ प्रत्ययों की 'कृत्य' संज्ञा है। उनके योग में 'कर्तकर्मणोः कृति से नित्य षष्ठी प्राप्त थी। यह सूत्र विकल्प से षष्ठी करता है।

मया मम वा सेव्यो हरिः (मेरे द्वारा हरि सेवनीय है)—यहाँ 'सेव्य' शब्द सेव् (षेव सेवायाम्) धातु से कर्म में ण्यत् (कृत्य) प्रत्यय होकर बना है। कर्त्ता अनुक्त है। कर्त्ता में उपर्युक्त नियम से विकल्प से षष्ठी (मम) तथा पक्ष में ततीया विभक्ति होती है।

कर्तरीति किम् इति–सूत्र में 'कर्तरि' (कर्त्ता में) शब्द का क्या प्रयोजन है? कर्त्ता में प्राप्त होने वाली षष्ठी का ही विकल्प होता है अतएव जहाँ 'कृत्य' के योग में कर्म में षष्ठी प्राप्त है वहाँ इस नियम से विकल्प नहीं होता; जैसे– 'गेयो माणवकः साम्नाम्'– (माणवक साम का गायक है)– यहाँ 'गेय, शब्द 'गा' धातु से भव्यगेय0 आदि सूत्र से कर्त्ता से 'यत्' प्रत्यय (कृत्य) होकर बना है कर्म (सामन्) अनभिहित है अतः 'साम्नाम्' (सामन् ष0 बहु0) में नित्य ही षष्ठी विभक्ति होती है।

अत्रेति–कृत्यानां कर्तरि वा' सूत्र में योग –विभाग किया गया है। अर्थात् 'कृत्यानाम्' यह एक सूत्र माना जाता है जिसमें 'उभयप्राप्तौ' और 'न' की अनुवत्ति आती है तथा यह अर्थ होता है–'कृत्यों के योग में कर्त्ता और कर्म दोनों में प्राप्त होने वाली षष्ठी नहीं होती' जैसे–

'नेतव्या व्रजं गावः कृष्णेन' — (कृष्ण को गाय व्रज में ले जानी है)—यहाँ 'गावः' प्रधान कर्म है। 'तव्य' प्रत्यय प्रधान कर्म में ही हुआ है (प्रधाने नीह्रकृष्वहाम्)। 'व्रज' गौण कर्म तथा कृष्ण कर्ता है। ये दोनों अनुक्त है। अतः दोनों में षष्ठी है। किन्तु इस नियम से 'व्रज' (कर्म) तथा 'कृष्णेन' (कर्ता) में षष्ठी विभक्ति नहीं होती अपितु क्रमशः द्वितीया और ततीया विभक्तियाँ होती है।

'कर्तरि वा' यह दूसरा सूत्र मानना चाहिये। इसमें 'कृत्यानां की अनुवत्ति करके सूत्र, का ऊपर कहा हुआ अर्थ होता।

तुल्यार्थैरतुलोपमाभ्यां ततीयान्यतरस्याम् .2.3.72

तुल्यार्थैर्योगे ततीया वा स्यात्पक्षे षष्ठी। तुल्यः सदशः समो वा कृष्णस्य कृष्णेन वा। अतुलोपमाभ्यां किम्? तुला उपमा वा कृष्णस्य नास्ति।

व्याख्याः तुल्यार्थैरिति–तुला और 'उपमा' दो शब्दों को छोड़ कर शेष तुल्य अर्थ वाले शब्दों के योग में विकल्प से ततीया विभक्ति होती है पक्ष में षष्ठी होती है।

तुल्यः कृष्णस्य कृष्णेन वा (वा)– कृष्ण के समान– यहाँ 'तुल्य' शब्द के साथ 'कृष्ण' शब्द से षष्ठी अथवा ततीया विभक्ति होती है। इसी प्रकार 'सदशः कृष्णस्य कृष्णेन वा' 'समः कृष्णस्य कृष्णेन वा'।

अतुलोपमाभ्यां किम इति– तुला और उपमा के योग में केवल षष्ठी विभक्ति ही होती है' जैसे 'तुला उपमा वा कृष्णस्य नास्ति।'

संस्कृत के उच्चकोटि के कवियों में तुला और उपमा के साथ भी ततीया का प्रयोग किया है, जैसे–नभसा तुला समारुरोह (रघु0 8–15), :स्फुटोपमं भूतिसितेन शम्भुना (शिशु0 1–4)। (आप्टे 117)

चतुर्थी चाशिष्यायुष्यमद्रभद्रकुशलसुखाार्थहितैः. 2.3.73

एतदर्थैघोगे चतुथ्री वा स्यात्पक्षे षष्ठी आशिषि। आयुष्यं चिरं जीवितं कृष्णाय कृष्णस्य वा भूयात्। एवं मद्रं भद्रं कुशलम् निरामयं सुखं शं अर्थः प्रयोजन हितं पथ्यं वा भूयात।

आशिषि किम्? देवदत्तस्यायुष्यमस्ति। व्याख्यानात् सर्वत्रार्थग्रहणम्। मद्रभद्रयोः पर्यायत्वादन्यतरो न पठनीयः। इति षष्ठी।।

व्याख्याः चतुर्थीति–आशीर्वाद में–आयुष्य, मद्र, भद्र, कुशल, सुख, अर्थ और हित इन अर्थ वाले शब्दों के साथ विकल्प से

चतुर्थी विभक्ति होती है। इसी प्रकार–'चिरजीवितं कृष्णाय कृष्णास्य वा भूयात्' तथा ''मद्रं भद्रं कुशलं निरामयं सुखं शम् अर्थः प्रयोजनं हितं पथ्यं वा कृष्णाय वा भूयात्।''

आशिषि किम् इति–आशीर्वाद में चतुर्थी अथवा षष्ठी विभक्ति हो जाती है, ऐसा क्यों कहा? इसलिये कि तथ्य–कथन में केवल षष्ठी विभक्ति ही होती है, जैसे–देवदत्तस्य आयुष्यमस्ति (देवदत्त की दीर्घायु है)।

व्याख्यानात् इति–यद्यपि व्याकरण में शब्द के स्वरूप का ही ग्रहण किया जाता है (स्वं रूपं शब्दस्याशब्दसंज्ञा) तथापि आचार्यों के व्याख्यान से यहाँ इन शब्दों के अर्थ वाले शब्द लिये जाते हैं। 'मद्र' और 'भद्र' (कलयाणवाची) शब्द समानार्थक हैं अतः इनमें से एक को सूत्र में न पढ़ना चाहिये अर्थात् एक निष्प्रयोजन है। इति षष्ठी विभक्ति।

सप्तमी विभक्ति–

आधारोधिकरणम् . 2.4.45

कर्तकर्मद्वारा तन्निष्ठक्रियाया आधारः कारकमधिकरणसंज्ञः स्यात्।।

व्याख्याः आधार इति–कर्ता और कर्म के द्वारा उनमें स्थित क्रिया का आधार अधिकरण कहलाता है।

टिप्पणीः अधिकरण क्रिया का साक्षात् आधार नहीं होता किन्तु कर्ता और कर्म के द्वारा अर्थात् वह कर्ता और कर्म का आधार होता है और क्रिया कर्ता या कर्म में रहती है।

सप्तम्यधिकरणे च. 2.3.36

अधिकरणे सप्तमी स्यात्। चकाराद् दूरान्तिकार्थेभ्यः। औपश्लेषिको वैषयिकोभिव्यापकश्चेत्याधारस्त्रिधा। कटे आस्ते। स्थाल्यां पचति। मोक्षे इच्छास्ति। सर्वस्मिन्नात्मास्ति। वनस्य दूरे अन्तिके वा। 'दूरान्तिकार्थेभ्यः इति विभक्तित्रयेण सह चतस्रोत्र विभक्तयः फलिताः।।

व्याख्याः सप्तमी इति– अधिकरण में सप्तमी विभक्ति होती है।

चकाराद् इति–सूत्र के 'च' शब्द से पहले सूत्र (दूरान्तिकार्थेभ्यो द्वितीया च 2.3.25) से 'दूरान्तिकार्थेभ्यः' शब्द की अनुवत्ति आती है तथा दूर और समीप (अन्तिक) अर्थ वाले शब्दों में भी सप्तमी विभक्ति होती है।

औपश्लेषिक इति–आधार तीन प्रकार का होता है–

1. औपश्लेषिक

2. वैषयिक तथा

3. अभिव्यापक।

1. औपश्लेषिक–उपश्लेष का अर्थ है संयोगादि संबंध। जहाँ कर्ता अथवा कर्म आधार में संयोग आदि संबंध में रहते हैं, वह आधार औपश्लेषिक है, जैसे– कटे आस्ते (चटाई पर बैठता है)–यहाँ बैठने वाले कर्ता का आधार (कट) के साथ संयोग संबंध है। 'कट' औपश्लेषिक आधार है। इसकी अधिकरण संज्ञा होकर इसमें सप्तमी विभक्ति होती है।

स्थाल्यां पचति–(देगची में पकाता है)–यहाँ 'स्थाली' पाकक्रिया के कर्म (तण्डुल आदि) का संयोग संबंध से आधार है। इसकी अधिकरण संज्ञा होकर इसमें सप्तमी विभक्ति होती है।

2. वैषयिक आधार–विषयता संबंध से होने वाला आधार वैषयिक आधार कहलाता है अर्थात् उसके साथ कर्ता का बौद्धिक संबंध होता है; जैसेः–

मोक्ष इच्छास्ति (मोक्ष में इच्छा है)–यहाँ कर्ता की मोक्ष के विषय में इच्छा है। मोक्ष इच्छा का विषय है अतः यह वैषयिक आधार हैं। इसकी अधिकरण संज्ञा होकर उसमें सप्तमी विभक्ति होती है।

3. अभिव्यापक–वह आधार है, जिसमें कोई वस्तु समस्त अवयवों में व्याप्त होकर रहती हो; जैसे–

सर्वस्मिन् आत्मास्ति (सब में आत्मा है)–आत्मा सब में व्यापक है अतः 'सर्व' अभिव्यापक आधार है। इसकी

अधिकरण संज्ञा होकर इसमें सप्तमी विभक्ति होती है। इसी प्रकार ''तिलेषु तैलम्'' इत्यादि।

वनस्य दूरे अन्तिके वा (वन से दूर या निकट)—यहाँ दूर और अन्तिक में सप्तमी विभक्ति होती है। इस प्रकार दूरान्तिकार्थेभ्यः इस सूत्र से होने वाली तीन विभक्तियों (द्वितीया, पंचमी, तथा ततीया) सहित दूर और समीप अर्थ वाले शब्दों में चार विभक्तियाँ (द्वितीया, ततीया, पंचमी तथा सप्तमी) होती हैं।

*** (वा) क्तस्येन्विषयस्य कर्मण्युपसंख्यानम् अधीती व्याकरणे, अधीतमनेनेति विग्रह इष्टादिभ्यश्च 5.2.88।।**

व्याख्याः क्तस्येति (वा)—क्त प्रत्ययान्त शब्दों से इन् प्रत्यय होकर बने हुए शब्दों के कर्म में सप्तमी विभक्ति कहनी चाहिये।

अधीती व्याकरणे (व्याकरण पढ़ा हुआ)—यहाँ 'अधीती' शब्द 'अधीत' (अधि = इङ्+क्त) से कर्ता में 'इनि' प्रत्यय होकर बना है (अधीत+इन्—अधीतिन् = अधीति प्र0 एक0)।' व्याकरणम् अधीतवान्' यह अर्थ होता है । यहाँ व्याकरण कर्म है और उपर्युक्त वार्तिक के अनुसार कर्म में सप्तमी विभक्ति हो जाती है।

*** (वा) साध्वसाधुप्रयोगे च साधुः कृष्णो मातरि। असाधुर्मातुले।**

व्याख्याः साधु इति (वा)—साधु और असाधु शब्द के प्रयोग में सप्तमी विभक्ति होती है।

साधुः कृष्णो मातरि (कृष्ण माता के प्रति अच्छा है)—यहाँ साधु के योग में 'मात' शब्द से सप्तमी विभक्ति होती है। इसी प्रकार 'असाधुः मातुले' (वह मामा के प्रति बुरा है)—यहाँ —मातुले' में भी सप्तमी है।

'साधुनिपुणाभ्याम् अचार्यायाम्' 2.3.43 से पूजार्थ में ही साधु शब्द के साथ सप्तमी होती है, अतः श्रेष्ठ, हितकारी आदि अर्थों में इस सूत्र से सप्तमी कही गई है।

*** (वा) निमित्तात्कर्मयोगे। निमित्तमिह फलम्। योगः संयोगसमवायात्मकः।।**

चर्मणि द्वीपिनं हन्ति दन्तयोर्हन्ति कुजरम्। केशेषु चमरीं हन्ति सीम्नि पुष्कलको हतः।। 1।।

(इति भाष्यम)

हेतो ततीयात्र प्राप्ता तन्निवारणार्थमिदम्। सीमाण्डकोशः। पुष्कलको गन्धमगः। योगविशेषे किम्। वेतनेन धान्यं लुनाति।

व्याख्याः निमित्ताद् इति (वा)— इस वार्तिक में निमित्त, का अर्थ है—फल। योग कहते हैं संबंध को, वह यहाँ संयोग या समवाय लिया जाता है। निमित्त अर्थात् फलवाचक शब्द से सप्तमी विभक्ति होती है यदि उस फलवाचक शब्द का कर्म के साथ संयोग या समवाय संबंध हो।

चर्मणि द्वीपिनं हन्ति (चर्म के लिये व्याघ्र को मारता है)——यहाँ 'चर्म' फल के लिये व्याघ्र की हत्या की जाती है। चर्म द्वीपी व्याघ्र रूप कर्म में समवेत है अर्थात् समवाय संबंध में रहता है। अतः उपर्युक्त नियम के अनुसार 'चर्मणि' में सप्तमी विभक्ति होती है। इसी प्रकार —'दन्त्योः हन्ति कुजरम्' दाँतो के लिये हाथी को मारता है—यहाँ 'दन्त्योः' में, केशेषु चमरीं हन्ति' केशों के लिये चमरी नामक मगविशेष को मारता है—यहाँ केशेषु' में तथा 'सीम्नि पुष्कलको हतः' सीमा = अण्डकोष कस्तूरी को कहते हैं। पुष्कलक नाम का एक मगविशेष है जिसे गन्धमग भी कहते हैं। यहाँ 'सीम्नि' में सप्तमी विभक्ति होती है। यहाँ भी दन्त, केश तथा सीम का कर्म हस्ती, चमरी, पुष्कलक के साथ समवाय संबंध है।

हेताविति—यहाँ सभी प्रयोगों में 'हेतो' इस सूत्र से हेतु में ततीया विभक्ति प्राप्त हुई थी। उसके स्थान पर इस वार्तिक से सप्तमी कही गई है।

योगविशेषे किमति— जहाँ 'फल' का कर्म के साथ संयोग या समवाय संबंध होता है वहीं उपर्युक्त नियम से फलवाचक शब्दों में सप्तमी विभक्ति होती है ऐसा क्यों कहा? इसलिये कि 'वेतनेन धान्यं लुनाति' वेतन के लिये धान्य काटता है।— यहाँ 'वेतन' शब्द का 'धान्य' से संयोग अथवा समवाय संबंध नहीं अतः यहाँ सप्तमी नहीं होती,

अपितु 'हेतु' में ततीया विभक्ति होती है।

यस्य भावेन भावलक्षणम्. 2.3.37

यस्य क्रियया क्रियान्तरं लक्ष्यते ततः सप्तमी स्यात्। गोषु दुह्यमानासु गतः।।

व्याख्याः यस्य चेति– जिसकी क्रिया से कोई दूसरी क्रिया लक्षित होती है, उससे सप्तमी विभक्ति होती है। क्रिया किसी कर्त्ता या कर्म में रहती है अतः जिस कर्ता या कर्म में स्थित प्रसिद्ध क्रिया से दूसरी क्रिया लक्षित होती है उस कर्ता या कर्म में सप्तमी विभक्ति होती है।

टिप्पणीः इस नियम से होने वाली सप्तमी को 'सति सप्तमी' या भावे सप्तमी' कहते हैं।

गोषु दुह्यमानासु गतः (जब गाएँ दुही जा रही थी तब वह गया)। यहाँ 'गायों' की दोहन क्रिया से किसी की गमन क्रिया लक्षित होती है अतः उपर्युक्तनियम के अनुसार 'गोषु' में सप्तमी विभक्ति हो जाती है। यहाँ क्रिया कर्मस्थ है। कर्तस्थ क्रिया का उदाहरण है–ब्राह्मणेषु अधीयानेषु गतः।

*** (वा) अर्हाणां कर्तत्वेनर्हाणामकर्तत्वे तद्वैपरीत्ये च सत्सु तरत्सु असन्त आसते। असत्सु तिष्ठत्सु सन्तस्तरन्ति। सत्सु तिष्ठत्सु असन्तस्तरन्ति। असत्सु तरत्सु सन्तस्तिष्ठन्ति।।**

व्याख्याः **अर्हाणाम् इति**–जिस कार्य के लिये जो योग्य या उपयुक्त हैं, वे 'अर्ह' कहे जाते हैं तथा जो अयोग्य या अनुपयुक्त हैं वे 'अनर्ह'। योग्यों का कर्तत्य प्रकट करने में तथा अयोग्यों का अकर्तत्व प्रकट करने में और इसकी विपरीतता में सप्तमी विभक्ति होती है। इस वार्तिक के चार भाग है।

1. अर्हाणाम् कर्तत्वे–क्रिया में उचित व्यक्तियों के कर्तत्य की विवक्षा होने पर उनमें सप्तमी विभक्ति होती है। जैसे–'सत्सु तरत्सु असन्त आस्ते' (सज्जन तरते हैं और असज्जन बैठे हैं) यहाँ सत्पुरुषों का तरना उचित है, वे तरण क्रिया के कर्ता है अतः 'सत्सु' में उपर्युक्त नियम के अनुसार सप्तमी विभक्ति होती है तथा 'सत्सु' के समान इसके विशेषण 'तरत्सु' में भी सप्तमी हो जाती है।

2. अनर्हाणाम् अकर्तत्वे–जिस क्रिया में जिनका कर्तत्व अनुचित है उनके अकर्तत्व को बतलाने के लिये उनसे सप्तमी विभक्ति होती है, जैसे–'असत्सु तिष्ठत्सु सन्तस्तरन्ति' असज्जनों का तरना अनुचित है तथा 'तिष्ठत्सु' से तरण क्रिया में अकर्तत्व का बोध होता है अतः 'असत्सु' में सप्तमी विभक्ति हो जाती है ओर उसके विशेषण 'तिष्ठत्सु' में भी।

तद्वैपरीत्ये च–और उसकी विपरीत दशा में; में जैसे–

3. जिनका करना उचित है उनके अकर्तत्व को प्रकट करने में उनसे सप्तमी विभक्ति होती है; जैसे–'सत्सु तिष्ठत्सु असन्तस्तरन्ति–सज्जनों का तरण उचित है किन्तु उनका तरना 'तरत्सु' से प्रकट हो रहा है। अतः असत्सु तथा उसके विशेषण तरत्सु में सप्तमी विभक्ति होती है।

कुछ आचार्यों का मत है कि इस वार्तिक के उदाहरणों में 'यस्य च भावेन भावलक्षणम्' से ही सप्तमी सिद्ध हो जाती है अतएव इसकी आवश्यकता नहीं। किन्तु दूसरों का कथन है कि यहाँ एक की क्रिया से दूसरी क्रिया लक्षित नहीं होती; 'यदा सन्तस्तरन्ति तदा असन्त आसते' इस प्रकार का अर्थ उपर्युक्त उदाहरणों का नहीं होता अपितु 'सनतस्तरन्ति, असन्त आसते इत्यादि अर्थ ही होता है (दे0 शारदारजन, मि 0 प0 203)

षष्ठी चानादरे2.3.38

अनादराधिक्ये भावलक्षणे षष्ठीसप्तम्यौ स्तः। रुदति रुदतो वा प्राव्राजीत्। रुदन्तं पुत्रादिकमनादत्य संन्यस्वानित्यर्थः।।

व्याख्याः षष्ठीति– यदि अनादर भी प्रकट हो तो जिसकी क्रिया से अन्य क्रिया लक्षित होती है उसमें षष्ठी या सप्तमी विभक्ति हो जाती है।

रुदति रुदतो वा प्राव्रजीत्–इसका अर्थ है–'रोते हुए पुत्र आदि की उपेक्षा करके संन्यास ग्रहण कर लिया'। यहाँ

रुदन' क्रिया से प्रव्रजन क्रिया लक्षित होती है। साथ ही 'रुदन' का तिरस्कार या उपेक्षा भी प्रकट हो रही है, अतएव रुदति' या रुदतः' में सप्तमी तथा षष्ठी विभक्ति होती है।

स्वामीश्वराधिपतिदायादसाक्षिप्रतिभूप्रसूतैश्च.2.3.69

एतैः सप्तभिर्योगे षष्ठीसप्तम्यौ स्तः। षष्ठ्यामेव प्राप्तायां पाक्षिकसप्तम्यर्थं वचनम्। गवां गोषु वा स्वामी। गवां गोषु वा प्रसूतः। गा एवानुभवितुं जात इत्यर्थः।।

व्याख्याः स्वामीति–स्वामी, ईश्वर, अधिपति, दायाद, साक्षिन्, प्रतिभू तथा प्रसूत इन शब्दों के योग में षष्ठी तथा सप्तमी विभक्ति होती है। संबंध में केवल षष्ठी प्राप्त थी, पक्ष में सप्तमी के लिये यह सूत्र कहा गया है।

गवां गोषु वा स्वामी (गायों का स्वामी) यहाँ उपर्युक्त नियम से 'स्वामी' शब्द के योग में 'गवाम्' तथा 'गोषु' में विकल्प से षष्ठी या सप्तमी विभक्ति होती है।

गवां गोषु वा प्रसूतः–(गायों में उत्पन्न हुआ है)–इसका भाव है–गायों को प्राप्त करने के लिये ही उत्पन्न हुआ है। यहाँ भी षष्ठी तथा सप्तमी विभक्ति होती है। इसी प्रकार पथिव्याः पथिव्यां वा ईश्वरः, 'ग्रामाणां ग्रामेषु वा अधिपतिः' पित्रंशस्य पित्रंशे वा दायादः' व्यवहारस्य व्यवहारे वा साक्षी' दर्शनस्य दर्शने वा प्रतिभूः'।

अयुक्तकुशलाभ्यां चासेवायाम्.2.3.40

आभ्यां योगे षष्ठीसप्तम्यौ स्तस्तात्पर्येर्थे। आयुक्तो व्यापारितः। कुशलो वा हरिपूजने हरिपूजनस्य वा। आसेवायां किम्? आयुक्तो गौः शकटे। ईषद् युक्त इत्यर्थः।।

व्याख्याः आयुक्तेति–तत्परता अर्थ में आयुक्त और कुशल शब्द के योग में षष्ठी तथा सप्तमी विभक्ति होती है। जैसे–'आयुक्तः हरिपूजने हरिपूजनस्य वा' आयुक्त का अर्थ है–लगाया हुआ इसी प्रकार कुशलः हरिपूजने हरिपूजनस्य वा'।

आसेवायां किम् इति– जहाँ तत्पर अर्थ है वहीं आप्युक्त, कुशल् के योग में षष्ठी, सप्तमी होती है, यह क्यों कहा? इसलिये कि अन्य अर्थ में केवल सप्तमी होती है; आयुक्तो गौ शकटे'– इसका अर्थ है–गाड़ी में बैल जोड़ा गया। यहाँ तत्परता का बोध नहीं होता।

यतश्च निर्धारणम्. 2.3.41

जातिगुणक्रियासंज्ञाभिः समुदायादेकदेशस्य पथक्करणं निर्धारणं यतस्ततः षष्ठीसप्तम्यौ स्तः। नणां नषु ब्राह्मणः श्रेष्ठः। गवां गोषु वा कृष्णा बहुक्षीरा। गच्छतां गच्छत्सु वा धावन् शीघ्रः। छात्राणां छात्रेषु वा मैत्रः पटुः।।

व्याख्याः यतश्चेति–निर्धारण का अर्थ है–जाति, गुण क्रिया तथा संज्ञा आदि की विशेषता के कारण किसी वस्तु को अपने समुदाय से पथक् करना जिसमें से निर्धारण किया जाता है उससे षष्ठी या सप्तमी विभक्ति होती है।

नणां, नषु वा ब्राह्मणः श्रेष्ठः (मनुष्यों में ब्राह्मण श्रेष्ठ हैं)–यहाँ मनुष्य समुदाय से जाति की विशेषता के कारण ब्राह्मण को विशिष्ट दिखाया गया है, वह मनुष्य–समुदाय का ही एक अङ्ग है। यही निर्धारण है, अतः समुदाय रूप 'न' शब्द से षष्ठी अथवा सप्तमी विभक्ति होती है।

इसी प्रकार–गवां गोषु वा कृष्णा बहुक्षीरा (गायों में कृष्णा बहुत दूध वाली होती है)–यहाँ गुण के द्वारा पथक्करण है। 'गच्छतां गच्छत्सु वा धावन् शीघ्रः' (जाने वालों में दौड़ता हुआ शीर्घ जाता है)–यहाँ क्रिया के द्वारा पथक्करण है 'छात्राणां छात्रेषु वा मैत्रः पटुः' (छात्रों में मैत्र चतुर है)–यहाँ संज्ञा (मैत्र) के द्वारा पथक्करण है। इन सभी उदाहरणों में अपने समुदाय में से एक भाग को विशिष्ट दिखलाया गया है।

पचमी विभक्ते .2.3.42

विभागो विभक्तम्। निर्धार्यमाणस्य यत्र भेद एव तत्र पंचमी स्यात्। माथुराः पाटलिपुत्रकेभ्य आढ्यतराः।।

व्याख्याः पचमी इति– विभक्त का अर्थ है–विभाग या भेद। जहाँ विशिष्ट रूप में दिखलाई हुई वस्तु (निर्धार्यमाण) वस्तुतः भिन्न ही होती है वहाँ (जिससे भेद दिखलाया जाता है उसमें) पचमी विभक्ति होती है।

माथुरा पाटलिपुत्रकेभ्यः आढ्यतराः (मथुरा –निवासी पाटलिपुत्र के लोगों से सम्पन्न है)–यहाँ माथुर (मथुरा में रहने वाले) पाटलिपुत्र को (पटना के रहने वालों) से भिन्न हैं। माथुरों में दूसरों की अपेक्षा सम्पन्नता दिखाई गई है। अतः 'पाटलिपुत्रक' से पचमी विभक्ति होती है।

साधुनिपुणाभ्यामर्चायां सप्तम्यप्रतेः.2.3.43

आभ्यां योगे सप्तमी स्यादचार्याया न तु प्रतेः प्रयोगे। मातरि साधुर्निपुणो वा। अर्चायां किम्? निपुणो राज्ञो भत्यः। इह तत्त्वकथने तात्पर्यम्।

व्याख्याः साधु इति–साधु और निपुण के योग में सप्तमी होती है, पूजा अर्थ में, किन्तु 'प्रति' शब्द के प्रयोग में नहीं होती।

मातरि साधुर्निपुणो वा–यहाँ 'साधु' और निपुण शब्द के योग में 'मातरि' में सप्तमी विभक्ति होती है।

अर्चायां, किम् इति– जहाँ पूजा या आदर का भाव नहीं होता वहाँ संबंध में षष्ठी विभक्ति ही होती है, जैसे–'निपुणो राज्ञो भत्यः' (राजा का सेवक कुशल है)।

टिप्पणीः अर्चा से भिन्न अर्थ में भी साधु शब्द के साथ 'साध्वसाधुप्रयोगे च' (वा) से सप्तमी विभक्ति हो ही जाती है। यहाँ 'साधु' शब्द के ग्रहण का फल यह है कि 'अर्चा अर्थ में प्रति' आदि के योग में साधु शब्द के साथ सप्तमी विभक्ति नहीं होती।

*** (वा) अप्रत्यादिभिरिति वक्तव्यम्। साधुर्निपुणो वा मातरं प्रति पर्यनु वा।।**

व्याख्याः अप्रत्यादीति (वा) सूत्र में 'अप्रतेः' के स्थान पर 'अप्रत्यादिभिः कहना चाहिये अतः 'प्रति' 'परि' अनु' के प्रयोग में साधु और निपुण शब्द के साथ अर्चा अर्थ में भी सप्तमी विभक्ति नहीं होती अपितु द्वितीया होती है (कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया); जैसे–'साधुर्निपुणो वा मातरं प्रति परि अनु वा'।

प्रसितोत्सुकाभ्यां ततीया च . 2.3.44

आभ्यां योगे ततीया स्याच्चात्सप्तमी। प्रसित उत्सुको वा हरिणा हरौ वा।।

व्याख्याः प्रसितेति–प्रसित और उत्सुक शब्द के योग में ततीया विभक्ति होती है और सप्तमी भी।

प्रसितो हरिणा हरौ वा (हरि में लीन)–यहाँ 'प्रसित' शब्द के योग में 'हरिणा' में ततीया तथा 'हरौ' में सप्तमी विभक्ति होती है। इसी प्रकार ''उत्सुको हरिणा हरौ वा।''

नक्षत्रे च लुपि. 2.3.45

नक्षत्रे प्रकृत्यर्थे यो लुप्संज्ञया लुप्यमानस्य प्रत्ययस्यार्थस्तत्र वर्तमानात्ततीयासप्तम्यौ स्तोधिकरणे। मूलेनावाहयेद्देवीं श्रवणेन विसर्जयेत्। मूले श्रवणे इति वा। लुपि किम्? पुष्ये शनिः।।

व्याख्याः नक्षत्रे चेति–जहाँ नक्षत्रवाची शब्द लुप् संज्ञा से लुप्त प्रत्यय होता है और प्रत्यय का अर्थ वर्तमान होता है; अर्थात् जहाँ नक्षत्र वाची शब्द काल–विशेष को प्रकट करता है वहाँ उससे अधिकरण में ततीया तथा सप्तमी विभक्तियाँ होती हैं।

'मूलेने आवाहयेद् देवीं श्रवणेन विसर्जयेत् (मूले श्रवणे इति वा)'–यहाँ 'मूल' शब्द मूलनक्षत्र से युक्त काल का बोधक है। नक्षत्रवाची मूल शब्द से 'नक्षत्रेण युक्तः कालः' 4.2.3 इससे 'अण्' प्रत्यय हुआ और 'जलुबविशेषे 4.2.4' से उसका लुप् हो गया है। इसी प्रकार 'श्रवण' शब्द है। ऊपर के नियम से इन दोनों में ततीया और सप्तमी विभक्ति होती है।

लुपि किम् इति–जहाँ अण् प्रत्यय होकर उसका लुप् नहीं होता अर्थात् नक्षत्र वाची शब्द कालविशेष के लिये नहीं

१. सि० कौ० तत्त्ववोधिनी।

आता, अपने (नक्षत्र) अर्थ में ही रहता है वहाँ अधिकरण में सप्तमी विभक्ति ही होती है ततीया नहीं, जैसे 'पुष्ये शनिः' (पुष्यनक्षत्र में शनि है)।

सप्तमीपचम्यौ कारकमध्ये 2.3.7

शक्तिद्वयमध्ये यौ कालाध्वानौ ताभ्यामेते स्तः। अद्य भुक्त्वायं द्वयहे द्वयहाद्वा भोक्ता। कर्तशक्तयोर्मध्येयं कालः। इहस्थोयं क्रोशे क्रोशाद्वा लक्ष्यं विध्येत्। कर्तकर्मशक्त्योर्मध्येयं। देशः। अधिकशब्देन योगे सप्तमीपचम्याविष्येते। तदस्मिन्नधिकम् 5।2।45' इति 'यस्मादधिकम् 2।3।9। इति च सूत्र निर्देशात्। लोके लोकाद्वाधिको हरिः'।।

व्याख्याः दो कारक शक्तियों के बीच में जो काल और मार्ग हों उनके वाचक शब्दों से सप्तमी या पंचमी विभक्ति होती है।

अद्य भुक्त्वायं द्वयहे द्वयहाद् वा भोक्ता—(आज खाकर यह दो दिन में खायेगा)—यहाँ काल द्वयह) दो कर्त शक्तियों के बीच में है एक कर्त शक्ति का आज (अद्य) के भोजन से संबंध है और दूसरी का दो दिन पश्चात् के भोजन से। इसलिये कालवाची शब्द 'द्वयह' से सप्तमी या पंचमी विभक्ति होती है।

इहस्थोयं क्रोशे क्रोशाद् वा लक्ष्यं विध्येत् (यहाँ स्थित होकर यह एक कोश पर स्थित लक्ष्य को बेध देगा)—यहाँ कर्ता और कर्म कारक की दो शक्तियों ('अयं तथा लक्ष्य') के बीच में मार्ग (क्रोश) है अतः क्रोश से सप्तमी या पंचमी विभक्ति होती है।

अधिकशब्दनेति—आचार्य पाणिनि ने ''तदस्मिन् अधिकम्0'' 5।2।45 इस सूत्र में अधिक' के साथ सप्तमी विभक्ति का प्रयोग किया है ओर ''यस्माद् अधिकम0'' 2।3।9 इस सूत्र में अधिक' के साथ पंचमी का प्रयोग किया है। इस निर्देश से ज्ञात होता है कि अधिक शब्द के योग में सप्तमी और पंचमी दोनों विभक्तियाँ इष्ट हैं। अतएव 'लोकाद् वा अधिको हरिः' हरि लोक की अपेक्षा श्रेष्ठ है)—यहाँ 'लोके' 'लोकाद्' में सप्तमी और पंचमी विभक्ति हैं।

अधिरीश्वरे .1.4.97

स्वस्वामिभावसम्बन्धेधि कर्मप्रवचनीयसंज्ञः स्यात्।

व्याख्याः अधिरीश्वर इति— स्व और स्वामी के संबंध को प्रकट करने में 'अधि' की कर्म प्रवचनीय संज्ञा होती है।

यस्मादधिकं यस्य चेश्वरवचनं तत्र सप्तमी.2.4.9

अत्र कर्मप्रवचनीययुक्ते सप्तमी स्यात्। उप परार्धे हरेर्गुणाः। परार्धादधिका इत्यर्थः। ऐश्वर्ये तु स्वस्वामिभ्यां पर्यायेण सप्तमी। अधि भुवि रामः। अधि रामे भूः। सप्तमी शौण्डैरिति समासपक्षे तु रामाधीना। 'अषडक्ष-5.4.7' इत्यादिना खः।।

व्याख्याः यस्माद् इति—जिससे अधिक हो और जिसका स्वामित्व कहा जाये उसमें कर्मप्रवचनीय के योग में सप्तमी विभक्ति होती है।

उप परार्धे हरेर्गुणाः—इसका अर्थ है—परार्ध से अधिक अर्थात् संख्यातीत (असंख्य)। परार्ध सबसे बड़ी संख्या को कहते हैं। यहाँ 'उप' कर्मप्रवचीनयसंज्ञक है (उपोधिके च 1।4।87)। 'परार्ध' से अधिक हरि के गुणों का कथन किया गया है अतः 'उप' के योग में 'परार्धे' में सप्तमी विभक्ति होती है।

ऐश्वर्वे त्विति—स्वामित्व को प्रकट करने के लिये तो स्व और स्वामी शब्दों में पर्याय से सप्तमी होती है। जैसे—

अधि भुवि रामः—(राम भूमि के स्वामी है)—यहाँ 'स्व' वाची भूमि शब्द से अधि कर्मप्रवचनीय के योग में सप्तमी विभक्ति होती है।

अधि रामे भूः (भूमि राम की है)—यहाँ स्वामी वाचक 'राम' शब्द से कर्मप्रवचनीय 'अधि' के योग में सप्तमी विभक्ति होती है।

सप्तमीति—'अधि रामे' इस विग्रह में ''सप्तमी शौण्डैः'' 2.1.40 इस सूत्र से समास होकर राम+ अधि रामाधि से

'ख' प्रत्यय हो जाता है। 'ख' को 'ईन' होकर रामधि + ईन = रामधीन। स्त्रीलिङ्ग में 'टाप्' होकर ''रामाधीना
5 भू:'' यह प्रयोग होता है।

विभाषा कृञि . 2.4.98

अधिः करोतौ प्रक्संज्ञो वा स्यादीश्वरेर्थे। यदत्र मामधिकरिष्यति। विनियोक्ष्यत इत्यर्थः। इह विनियोक्तुरीश्वरत्वं गम्यते। अगतित्वात् 'तिङ्ङिवोदात्तवति-8।1।71' इति निघातो न।। इति सप्तमी।।

व्याख्याः कृ् धातु परे होने पर 'अधि' की स्व–स्वामिभाव संबंध में विकल्प से कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है।

यदत्र मामधिकरिष्यति (जो यहाँ मुझे नियुक्त करेगा)–यहाँ 'अधिकरिष्यति' का अर्थ है–विनियोक्ष्यते (नियुक्त करेगा)। यहाँ विनियोक्ता का स्वामित्व प्रकट होता है। इसी से 'अधि' को कर्मप्रवचनीय संज्ञा हो जाती है और कर्म प्रवचनीययुक्ते द्वितीया से द्वितीया विभक्ति का प्रयोग हो गया। कर्मद्रव चनीय संज्ञा होने से 'गति' संज्ञा का बाध हो जाता है। गति संज्ञा न होने से ''तिङ्ङि चोदात्तवति'' 8.1.7 इस सूत्र से 'अधि' को निघात (सर्वानुदात्त) नहीं होता। 'माम् में द्वितीया तो कर्म होने से ही सिद्ध है।

(इति कारकप्रकरणम्)